

उन्मीलन

संपादक

यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

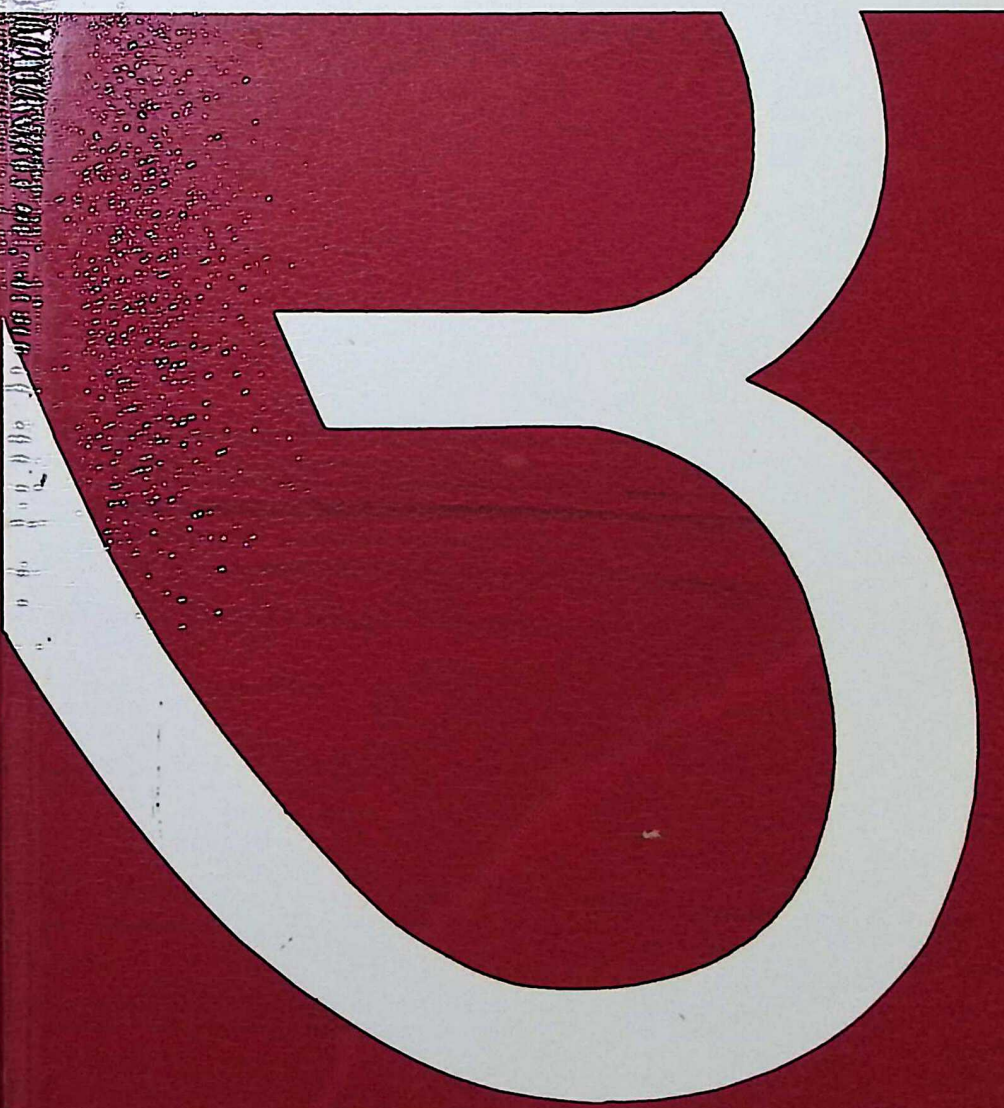
अवध संपादक

अंबिकादत्त शर्मा

मानसिक हिन्द स्वराज का
वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 20, अंक 1

जनवरी, 2006



वर्ष 20 अंक 1

जनवरी, 2006

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. दयाकृष्ण, चौथी मंजिल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. अशोक वाजपेयी, सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. अम्बिकादत्त शर्मा, बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 50/-

संस्थाएं : रु 100/-

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 500/-

संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुन्द लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोजिंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

अनुक्रमणिका

1. अस्तित्व का विमर्श (1) : प्राकृत विषयों की सत्ता	गोविन्दचन्द्र पांडे	1
2. अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध	यशदेव शल्य	19
3. भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद के कुछ अनालोचित पक्ष	अम्बिकादत्त शर्मा	31
3. धर्म और नीति : विरोध का अनिवार्य युगल-भाव	मुकुन्द लाठ	43
4. काश्मीर शैवदर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका	नवजीवन रस्तोगी	71
5. पुस्तक समीक्षा काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ कार्यकारणभाव मीमांसा	अच्युतानन्द दाश सच्चिदानन्द मिश्र	88 107

आस्तित्व का विमर्श (1) : प्राकृत विषयों की सत्ता

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

विषयेष्वस्तिताबुद्धिरस्मिताबुद्धिरात्मनि ।
 अस्मितैवास्तितामूलमन्वयव्यतिरेकतः ॥ 1 ॥
 अस्तित्वं च स्वरूपं च विषयस्यावसीयते ।
 ज्ञानेन, तत्प्रकाराश्च पदार्था इति संज्ञिताः ॥ 2 ॥
 सत्ता प्रत्यक्षतो लभ्या स्वतन्त्रार्थक्रियाक्षमा ।
 वेदतृनिरपेक्षासौ स्वप्रतीतिनियामिका ॥ 3 ॥
 स्थूलसूक्ष्मविभागेन सत्ता द्विविधा मता ।
 सामान्य लक्षणैः युक्ता सास्थूलेत्यभिधीयते ॥ 4 ॥
 सूक्ष्माभिधीयते सा तु या परोक्षस्वलक्षणा ।
 स्वलक्षण परतन्त्रं कारित्रं लभ्यते यतः ॥ 5 ॥
 स्वभाव नियमानान्तु विज्ञानं सविकल्पकात् ।
 कथं सामान्य धर्मास्तु भविष्यन्ति नियामकाः ॥ 6 ॥
 अस्तित्वं ज्ञानमात्रेण सत्यासत्यानपेक्षिणा ॥
 लभ्यतेऽकल्पितंवास्यात् कल्पितं वा यथामति ॥ 7 ॥
 द्रव्यं गुणः क्रिया चैव जाति सम्बन्ध एव च ।
 कोटयो पञ्चधा कैश्चित् ज्ञानाकारतया मताः ॥ 8 ॥
 वस्तुमात्रगताकाराः अपरैर्न्यायवादिभिः ।
 अनादि वासनामूलाः कल्पना इतरैर्मताः ॥ 9 ॥
 संघाता आणवश्चैव विकल्पारोपिताः सति ।
 योगि प्रत्यक्ष विषये प्रतिभासविवर्तिनी ॥ 10 ॥
 सामान्यलक्षणप्राया साँवृतार्थानुयोगिनी ।
 अविसंवादकतया सत्ता हेतु फलक्रमा ॥ 1 ॥
 स्थूलं वा सूक्ष्ममेवापि नियतं प्रतिभाति यत् ।
 कार्य कारण भावेन तत्र सत्ताभ्युपेयते ॥ 12 ॥
 कार्य कारण भावस्तु सन्तानेष्वधिगम्यते ।
 नियमा अनुमाप्यन्ते धर्मैः सामान्य लक्षणैः ॥ 13 ॥
 क्षण एव क्रिया योगः सन्ताने च क्रमः स्थितः ।
 विकल्पेन कथं सत्यं जातव्यं विरोधतः ॥ 14 ॥

वैज्ञानिकानुसन्धाने साधारण गुणाश्रिताः ।

नियमा अनुमीयन्ते व्यवहारप्रसाधकाः ॥ 15 ॥

संख्यया रचना मेया परिमाणो गतिस्तथा ।

गणितज्ञो भवेन्नूनं स्रष्टा विश्वनियामकः ॥ 16 ॥

घटवस्त्रादिसंघाता नियताः परमाणुषु ।

अनुमेयाश्च ते नूनं स्पृष्टव्यादिस्वलक्षणाः ॥ 17 ॥

सामान्य लक्षणैरेव तेष्वनुमा प्रवर्तते ।

विशेषलक्षणंविश्वं सामान्ये किं प्रतिष्ठितम् ॥ 18 ॥

दार्शनिक विमर्श में ज्ञान के सत्य-असत्य की परीक्षा रहती है, ज्ञान का सत्य-असत्य उसके विषय के सत्य-असत्य पर निर्भर करता है। अतः दार्शनिक विमर्श के लिए यह जानना आवश्यक है कि विषय का सत्य-असत्य कैसे पहचाना जाए? यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मानव-ज्ञान में सत्य ऐकान्तिक रूप से प्रकट होता है, क्या मानवीय ज्ञान-विषय सत्य-सापेक्ष नहीं होते, क्या वे एक सोपान के स्वातिक्रामी पद नहीं होते? इन प्रश्नों में जो गम्भीर संशय अन्तर्निहित है उन पर हम बाद में विचार करेंगे। यहाँ सत्य को व्यावहारिक अविस्वादकता के रूप में ही मुख्यतः ग्रहण करेंगे।

यहाँ पर कुछ शब्दों के प्रयोग के विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि इस प्रकरण में प्रयुक्त कुछ पदों का विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में अनेक प्रकार से प्रयोग किया गया है। हम जिसे जानते, सोचते या कहते हैं, वह विषय है। जिज्ञासित, विचार्य, विवक्षित विषय ज्ञात, विचारित और उक्त विषयों से अभिन्न हैं या ज्ञानादि-निरपेक्ष हैं, यह एक विवाद का विषय है, जिस पर यथासमय विचार किया जाएगा।¹ विषय भावात्मक और अभावात्मक हो सकते हैं। सत्ता से युक्त होने पर उन्हें प्रायः वस्तु कहा जाता है। विषय के अस्तित्व और वस्तु-सत्ता में अन्तर है, जिस पर आगे विचार किया जाएगा। जो कुछ ज्ञान या कल्पना का विषय बनता है उसे हम पदार्थ कहेंगे। अर्थात् पदार्थ वे विषय हैं जिनके ज्ञान-निरपेक्ष होने की हम स्थापना नहीं करते, यद्यपि यह मान्यता सर्वथा भ्रान्त हो सकती है। किसी विषय को हम जिस विशेषण से पहचानते हैं वह उसका धर्म है। यदि वह स्वभाव से उस वस्तु में रहता है और उसे विशेषित करता है तो वह उसका गुण है। गुण-से विशिष्ट वस्तुसत् को धर्मी और धर्मी को द्रव्य कहना प्रसिद्ध है। किन्तु द्रव्य का लक्षण और अस्तित्व विवादास्पद है और इस पर आगे विचार किया जाएगा। फलतः कोई चीज़ पदार्थ

1. यह लेख पाण्डे जी की लेखनाधीन पुस्तक का दूसरा अध्याय है। प्रथम अध्याय जुलाई 2005 अंक में प्रकाशित हुआ था। 'आगे विचार करने' से अभिप्राय इस अध्याय में विचार करना भी हो सकता है और आगे के अध्यायों में विचार करना भी। (संपादक)

है, ज्ञानादि का विषय होने पर वह विषय है, सत्ता से युक्त होने पर वह वस्तु है। विशेषण के रूप में विषय धर्म है, विशेष्य के रूप में धर्मी। कुछ धर्म गुण कहे जाते हैं, कुछ धर्मी द्रव्य।

अस्तित्व एक शब्द भी है, एक प्रत्यय भी और एक पदार्थ भी। उसके विश्लेषण के लिए इन तीनों ही स्तरों की सूचना और समन्वय आवश्यक है। शाब्दिक, बौद्धिक और कायिक-व्यावहारिक या ऐन्द्रिय स्तरों पर अस्तित्व का विश्लेषण सदा एक दिशा में नहीं ले जाता। न्याय दर्शन में शब्द-प्रयोग में अन्तर्निहित अर्थप्रतीति को विश्लेषण का द्वार माना गया है। बौद्ध दर्शन में ऐन्द्रिय अनुभव और कायिक व्यवहार को अस्तित्व-विश्लेषण का आरम्भिक बिन्दु माना गया है। किन्तु अस्तित्व की अवधारणा इतनी मूलभूत है कि भाषा, विचार और व्यवहार सभी में उसकी एक अविश्लेषित प्रतीति पूर्वोपलब्ध रहती है।

अस्तित्व की प्रतीति हमें अपनी प्रतीति के साथ ही सम्पृक्त मिलती है। यही उसके विमर्श का वास्तविक सूत्र है। किन्तु हमें अपनी प्रतीति अनेक स्तरों पर होती है, इन्हीं स्तरों पर हम क्रमशः अनुसन्धान करते हुए अस्तित्व के मर्म तक पहुँचने का प्रयास करेंगे। जैसे-जैसे हम अपने को पहचानते हैं, सत्य के निकट पहुँचते हैं, और अस्तित्व के द्वार खोलते जाते हैं।

मैं यह अविचारित रूप से जानता हूँ कि मेरे और अन्यो के शरीरों का अस्तित्व है और यह कि हमारे बाहरी जगत् का भी वैसा ही अस्तित्व है, जैसा हमारे शरीरों का। मैं अपने मन के अस्तित्व को भी सहज रूप से जानता हूँ एवं औरों के मन के अस्तित्व को भी असंदिग्ध रूप से मानता हूँ। मैं आत्मा, परमात्मा, परलोक के अस्तित्व को पारम्परिक मान्यताओं में श्रद्धा के कारण मानता हूँ। किन्तु यह मेरा विश्वास सन्देह-रहित नहीं है।

शरीरी और मनोजीवी होने के नाते मेरे अस्तित्व के दो आयाम हैं—दृश्य और अदृश्य। मेरा दृश्य अस्तित्व बाहरी जगत् के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। मेरा अदृश्य अस्तित्व सम्भवतः एक बृहत्तर सत्ता से जुड़ा हुआ है। अस्तित्व का पता प्रतीति से चलता है। यों कहा जा सकता है कि जो कुछ प्रतीत होता है उसका उस रूप में अस्तित्व भी प्रतीत होता है। प्रतीति मात्र किसी न किसी प्रकार के अस्तित्व की सूचना देती है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि जहाँ कहीं अस्तित्व है वह प्रतीति का विषय होगा, न यह कि अस्तित्व का प्रतीति में विलयन किया जा सकता है।

बहुत से विचारकों ने ऐसे तत्त्व की कल्पना की है जिसमें किसी भी ज्ञातव्य गुण या धर्म का अभाव है। ऐसे निर्गुण या धर्म-रहित तत्त्व को किसी भी मानवीय ज्ञान के साधन से नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में क्या ऐसे तत्त्व का अस्तित्व कहा जा सकता है? ऐसे तत्त्व का इस कारण निषेध भी नहीं किया जा सकता कि वह अभिधान के योग्य नहीं है। जो सर्वथा अज्ञेय है, वह है अथवा नहीं, इसके निर्णय का कोई साधन नहीं है। किन्तु तब इस प्रकार के अज्ञेय तत्त्व की चर्चा महत्वपूर्ण दार्शनिकों ने परमार्थ के रूप में क्यों की है? वे या

तो एक अज्ञेय और अनिर्वचनीय तत्त्व की निषेध की चरम कोटि के रूप में कल्पना करते हैं अथवा वे किसी प्रकार के अतिमानवीय ज्ञान में विश्वास रखते हैं, अथवा वे भ्रान्तिवश अर्थहीन शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस विचार को फिलहाल यहीं स्थगित करके अस्तित्व की अवधारणा पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि शून्यता, निर्गुण ब्रह्म अथवा स्वलक्षण पर विचार करने के लिए पहले मानवीय ज्ञान की सीमाओं पर और भाषा की सीमा पर विचार करना आवश्यक है।

ऊपर हमने यह कहा था कि प्रतीति मात्र में उसके विषय का अस्तित्व आभासित होता है। यह आभास सत्य और असत्य दोनों प्रकार का हो सकता है। स्वप्न में देखे हाथी को भ्रान्ति का विषय मानकर हम असत्य मानते हैं। अर्थात् स्वप्न के गज की प्रतीयमान अथवा आभासित सत्ता वास्तविक नहीं स्वीकार की जा सकती। दूसरी ओर मेले में अनेक लोगों के द्वारा देखा गया और दर्शकों की सवारी के लिए प्रस्तुत हाथी का अस्तित्व वास्तविक माना जाता है। इससे यह कहा जा सकता है कि प्रतीयमान अस्तित्व के दो भेद हैं, काल्पनिक और वास्तविक। सत्य-प्रतीति के विषय में अस्तित्व वास्तविक है, असत्य-प्रतीति के विषय में नहीं।

क्या असत्य-प्रतीति के विषय का कुछ भी अस्तित्व नहीं है या उसका अपना निराला अस्तित्व होता है? इस प्रश्न के विवेचन के लिए ज्ञान-मीमांसा के अनेक प्रश्नों का विवेचन आवश्यक है। आभासिक विषयों का अस्तित्व मानने में अनेक बाधाएँ हैं। वे विषय प्रतीति से स्वतन्त्र न होकर न्यूनाधिक रूप में प्रतीति-परतन्त्र होते हैं। वे सामान्यतया अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रतीत नहीं होते, उनकी अवस्थिति केवल प्रतीति-कालिक होती है, उनका रूप और कार्य नियत नहीं होता, वे कार्य-समर्थ नहीं होते।

इन आपत्तियों में अस्तित्व को मानने के लिए कुछ कसौटियाँ अन्तर्निहित हैं: सत् को अपनी प्रतीति से स्वतन्त्र होना चाहिए, सार्वजनिक प्रतीति के योग्य होना चाहिए, निश्चित-स्वभाव का होना चाहिए और कार्य-समर्थ होना चाहिए। इनमें भी दो बातें प्रमुख हैं—प्रतीति-योग्यता और कार्य-समर्थता। प्रतीति को दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वह जिसका विषय अपरोक्ष होता है, दूसरा वह जिसमें प्रतीति किसी अन्य विषय की प्रतीति के द्वारा होती है, यह द्वार अर्थ-संकेत से युक्त शब्द की प्रतीति हो सकती है, धर्मादि स्वाभाविक चिह्न की प्रतीति हो सकती है, अथवा तादात्म्य आदि अविनाभाव से सम्बद्ध प्रतीति हो सकती है। इस प्रकार एक ओर प्रतीति ऐन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष के रूप में विषय का साक्षात्कार होती है, दूसरी ओर वह किसी प्रकार के चिह्न की प्रतीति से अथवा शब्द की प्रतीति से अथवा किसी प्रकार की मानसिक प्रतीति से, उत्पन्न होती है। ज्ञान के विश्लेषण को युक्तिपूर्वक सविस्तार आगे लिया जाएगा। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि सर्वजन-प्रसिद्धि से जिस रूप में विषय की स्वतन्त्रता और सत्ता स्पष्ट भासित होती है वह प्रत्यक्ष प्रतीति है। प्रत्यक्ष प्रतीति का भी सर्वसम्मत रूप ऐन्द्रिय संवेदन पर

निर्भर प्रत्यक्ष है। अतः वर्तमान सन्दर्भ में हम इस ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सत्यापक प्रतीति मान कर चलेंगे—जहाँ तक इस पर चलना सम्भव है। इसकी विसंगतियाँ उजागर होने पर ही सापेक्ष रूप से इस मत में परिष्कार उपस्थित करेंगे।

आँखों देखी बात को हम वास्तविक मानते हैं, जब तक वह किसी प्रबल युक्ति से बाधित न हो। यदि प्रत्यक्ष के विषय में प्रत्यक्ष से सिद्ध अस्तित्व न माना जाए तो उस अस्तित्व को सिद्ध करने का कोई उपाय प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान अथवा तर्क से उसके विषय में जो भी निर्णय होगा, उसे किसी न किसी रूप में सत्यापन के लिए किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष अपेक्षित होगा। प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापन की कसौटी को निरपवाद रूप से स्वीकार करने पर जो कठिनाइयाँ पैदा होंगी उन्हें बहुत से विचारकों ने विस्तार से उद्घाटित किया है। उदाहरण के लिए अतीत वस्तु का प्रत्यक्ष न होने से समस्त ऐतिहासिक विषयों की सत्ता संदिग्ध हो जाएगी। किन्तु यह स्वीकार करना ही चाहिए कि प्रत्यक्ष से सत्यापन प्रत्यक्ष-योग्य विषयों का ही होता है। अतीत विषय अतीत काल में प्रत्यक्ष-योग्य थे, इसलिए सत्यापनीय थे, उनकी इस समय सत्ता है ही नहीं, अतः वे इस समय सत्यापनीय भी नहीं हैं। सत्यापन का अर्थ किसी ज्ञान की विषयभूत वस्तु की सत्ता का निर्णय है, न कि ज्ञान मात्र के सत्य या असत्य का निर्णय। जब ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है तब ज्ञान के सत्य-असत्य का निर्णय प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात् रूप से नहीं हो सकता, जैसे विशुद्ध गणित के प्रमेयों का, किन्तु उनका भी किसी न किसी रूप में निदर्शन सम्भव होता है। प्रत्यक्ष से सर्वथा असम्पृक्त मानवीय ज्ञान किस प्रकार का होगा, इस प्रश्न को हम विचार के लिए स्थगित कर रहे हैं।

अभ्रान्त प्रत्यक्ष के विषय में जिस अस्तित्व का भान होता है उसे प्रायः सत्ता अथवा वस्तुसत्ता कहा जाता है। हम भी यहाँ इस प्रयोग का अनुसरण करते हुए वास्तविकता के निर्वचन का प्रयास करेंगे। इस वास्तविकता को या सत्ता को कुछ विचारक सर्वव्यापक परम तत्त्व मानते हुए उसके तीन भेद करते हैं—(1) प्रतीयमान, (2) कार्य-समर्थ, और (3) नित्य, कुछ उसे सब पदार्थों का चरम कारण या मूलतत्त्व मानते हैं, कुछ उसे तात्कालिक अर्थक्रियाकारिकत्व मानते हैं, कुछ उसे विद्यमानत्व या वर्तमानत्व मानते हैं, कुछ उसे उत्पत्ति, विनाश और स्थायित्व से युक्त होना मानते हैं, कुछ उसे स्वभाव से युक्त होना मानते हैं, कुछ उसे स्वतन्त्र और स्वप्रकाश अस्तित्व मानते हैं, कुछ उसे एक विशेष प्रकार का सामान्य मानते हैं, जो कि द्रव्य, गुण, कर्म में रहता है, कुछ उसे प्रकाशमानता, क्रियाशीलता और अवरोधकता की संयुक्त अभिव्यक्ति मानते हैं। किसी प्रकार से प्रत्यक्ष-योग्य विषयों का नियमाधीन एक व्यापक दृष्टि से अस्तित्व ही सत्ता है।

सत्ता के सामान्य लक्षण पर विचार करने से पहले सत्ता के विभिन्न प्रकारों पर विचार करना उपयोगी होगा, क्योंकि सत्ता को एक निर्विशेष धर्म मानने पर उसका विश्लेषण ही सम्भव नहीं है, सिवा इसके कि वह स्वयं एक सामान्य धर्म है और विशेष वस्तुओं से

सम्पृक्त है। किन्तु जब विशेष वस्तुओं से उसका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रश्न उठेगा तो जिन वस्तुओं से भिन्न होने पर भी उनमें सत्ता मिलती है उनमें किन विशेषों से सत्ता पहिचानी जाए, यह निर्णय करने के लिए वस्तुओं में सत्ता पहिचानने के लिए कसौटी चाहिए। हम प्रत्यक्ष योग्य वस्तुओं में सत्ता कैसे पहिचानते हैं, यहाँ हम इस से आरम्भ करेंगे।

प्रत्यक्ष के विषय का भान उसके अस्तित्व के भान के साथ होता है और यह भान विषय की ज्ञान से स्वतन्त्रता एवं विषय में ज्ञान की नियामकता के भान के रूप में होता है। सम्मुख नीले रंग को देखते हुए मुझे यह विश्वास होता है कि यह नीला रंग मेरी प्रतीति के कारण नहीं है, प्रत्युत मेरी प्रतीति इसके कारण है। चाहे नील या घट, चाहे उपकरण से दृष्ट अणु, सबके विषय में इस प्रकार की प्रतीति रहती है, यद्यपि इनमें प्रत्यक्ष के साथ परोक्ष ज्ञान के तत्त्व न्यूनाधिक रूप में जुड़े रहते हैं। प्रत्यक्ष-गोचर विषय में प्रत्यक्ष-ज्ञान की विषयगत नियामकता ही विषयगत सत्ता का मुख्य लक्षण है। वस्तुतः कार्य-सामर्थ्य अथवा कारित्र का भी पता प्रत्यक्ष से ही चलता है। यह सही है कि वास्तविक विषय यदि अपने स्वभाव के अनुसार कार्य नहीं करता तो उसको वास्तविक मानने में बाधा होती है, किन्तु सब पदार्थों का स्वभाव पूर्णतया विदित नहीं होता, इसलिए उनके अस्तित्व का निर्णय इस पूर्ण ज्ञान की पूर्वापेक्षा नहीं रखता। कार्य-सामर्थ्य का न्यूनतम स्तर ज्ञान को जन्म देना है। किसी वस्तु में अपने प्रत्यक्ष को जन्म देने की क्षमता उसका न्यूनतम और आसन्नतम अर्थक्रियाकारित्व है। रज्जु और सर्प दोनों ही अपने-अपने लक्षण के अनुसार प्रत्यक्ष-योग्य हैं, किन्तु उनके लक्षण और रूप की प्रतीति अलग-अलग होती है। एक में दूसरे की प्रतीति होने पर प्रत्यक्ष के स्थान पर भ्रान्ति उत्पन्न होती है। रस्सी को निर्बाध रूप से पकड़ सकते हैं, सर्प को पकड़ने में उसके द्वारा डसे जा सकने का अनुभव होता है। दोनों अलग-अलग विषयों की सही प्रतीति अलग-अलग होती है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी वस्तु की प्रत्यक्ष-योग्यता केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष की बात नहीं है, प्रत्युत उस वस्तु के स्वभाव के निर्णायक प्रत्यक्ष की बात है।

अस्तित्व का यह प्रत्यक्ष-योग्य एवं कार्य-समर्थ भेद उसका कार्योपयोगी व्यावहारिक रूप है, जिसे सामान्यतया जीवन और विज्ञान में बाह्य-सत्ता या वस्तु-सत्ता कहते हैं। यही बहुधा सत्ता या वास्तविकता कही जाती है। यह सत्ता मानवीय ज्ञान से स्वतन्त्र होती है, और इसका ज्ञान उस वस्तु पर निर्भर होने के कारण वस्तुतन्त्र होता है। ज्ञान से स्वतन्त्र होते हुए भी नियत स्वभाव से युक्त और कार्य-कारण भाव से परिगृहीत हुई यह सत्ता सविशेष और अनित्य होती है।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रत्यक्ष-योग्यता और कार्य-सामर्थ्य में क्या सम्बन्ध है? क्या ये दोनों बाह्य सत्ता के लिए आवश्यक हैं? अनेक प्रकार के अप्रत्यक्ष विषयों को कार्य-समर्थ माना जाता है, जैसे भूत-प्रेत, देवता, ईश्वर या अतीत कर्म। किन्तु जो इन विषयों के अस्तित्व को मानते हैं वे इन्हें मानव-प्रत्यक्ष का विषय न मानते हुए भी

किसी प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय मानते हैं। दूसरी ओर ऐसे भी विषय हैं जो कार्य-सामर्थ्य से स्वस्था रहित हैं, किन्तु असद् नहीं माने जाते, जैसे देश-काल, सामान्य, आकाश, निर्वाण आदि। इन पदार्थों का अस्तित्व स्वतः ज्ञान के योग्य नहीं है, प्रत्युत वे अपने ज्ञान में अन्यापेक्ष हैं। उनका ज्ञान अन्य विषयों के विश्लेषण अथवा व्यावर्तन से प्राप्त होता है, इसलिए उन्हें स्वतन्त्र विषय न मानकर व्यावहारिक सत्ता में व्याप्त अथवा उसका काल्पनिक प्रतियोगी मानना चाहिए। देश और काल का अस्तित्व वस्तु-सत्ता के विशेषण के रूप में है। ब्रह्म और शून्यता द्रव्य-सत्ता से भिन्न होकर असद् से तभी भिन्न होंगे जब द्रव्य-सत्ता को उसकी आपेक्षिकता के कारण असद् माना जाए।

जो विषय स्वरूपतः प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं तथा जो प्रत्यक्ष-योग्य विषयों से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते, उनमें कार्य-सामर्थ्य का उपादान नहीं माना जा सकता। जो किसी भी प्रकार से साक्षात् या परम्परया प्रत्यक्ष के विषय बनते हैं उनमें ज्ञान की हेतुता के रूप में कारित्र रहता ही है। ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय एक क्रिया-प्रवाह के अन्तःपतित होकर ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष को प्राप्त होते हैं और उनमें संवेदन के हेतु बनते हैं। प्रकाश की किरणों रूप पर पड़कर और वहाँ से परावर्तित होकर आँखों में रूप का प्रतिबिम्ब पहुँचाती हैं। गन्धयुक्त द्रव्य के सूक्ष्म अंश ही नासिका तक पहुँचकर गन्ध की प्रतीति को जनते हैं। शब्द की किसी भौतिक माध्यम में तरंगों कान तक पहुँचकर शब्द की प्रतीति को जन्म देती हैं। नमकीन-मीठे आदि स्वाद से युक्त द्रव्य के अंश जिह्वा के साथ तात्कालिक संयोग से रस की प्रतीति को जन्म देते हैं। स्पर्श के बोध में विषय के साथ संयोग और पारस्परिक दबाव स्पर्श-ज्ञान का हेतु होता है। ताप के ज्ञान में भी अणुओं का परिस्पन्द और किरणों का अविघात हेतु होता है। संक्षेप में, सभी प्रकार के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में विषय और इन्द्रियों का क्रियात्मक सम्बन्ध रहता है, जो कि विषयगत कारित्र के बिना नहीं हो सकता। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ऐन्द्रिय संवेदन कायिक विकार हैं जो आकार विशेष को ग्रहण कर उसे चैतन्य की साक्षिता का विषय बनाते हैं। प्रतिरूपित, विषयाकार और साक्षिता के सम्पर्क से ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान की उत्पत्ति में विषयाकार प्रदत्त मात्र होता है, कारक नहीं। पर ज्ञान के इस विश्लेषण के ऊपर आगे विस्तार से विचार किया जाएगा।

जो ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय हैं उन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। नील-सुखादि विषयों का ज्ञान संवेदन मात्र से होता है। घट-पट आदि का ज्ञान संवेदन, स्मृति और अवधारणा के संयुक्त प्रयोग से होता है। ये अवयवी पदार्थ हैं और इनकी पहचान अनेक संवेदनों की तुलना तथा उनके संश्लेषण-विश्लेषण से होती है। जैसे ऐन्द्रियप्रत्यक्ष रूप, रस आदि की प्रतीतियों में विभक्त हो जाता है, ऐसे ही अवयवी द्रव्यों के विभाजन से उनके सूक्ष्मतर अवयवों और रचना-नियमों का पता चलता है। प्रत्यक्ष धर्मों से युक्त, देश-

काल में अवस्थित, सामान्य व्यवहार के योग्य अवयवी द्रव्यों की सत्ता सूक्ष्म अणुओं, शक्तियों और रचना-नियमों पर आधारित मिलती है।

अणु और ऊर्जा दोनों ही द्रव्यात्मक हैं और उनमें भेद होते हुए भी वे परस्पर परिवर्तनीय हैं। तात्पर्य यह है कि दृश्य-जगत् के ठोस पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं और उनसे संयुक्त ऊर्जा-तरंगों में विलीन हो जाते हैं। ठोस पदार्थों का यह सूक्ष्म रूप परम्परया प्रत्यक्ष का अविषय नहीं है, और न कार्य-कारित्र रहित है, किन्तु वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपकरणों के द्वारा और अनुमान के द्वारा ही जाना जा सकता है। यह अनुमान भी अधिकांश में संख्या, आकार, परिमाण और गति के वेग और नियमों का गणित होता है। संक्षेप में, दृश्य जगत् की आधारभूत सूक्ष्म सत्ता में यद्यपि कथंचित् प्रत्यक्ष की योग्यता और कारित्र के लक्षण अनुगत हैं, उसके नियामक तत्त्वों का ज्ञान अन्ततः संख्यात्मक रूप में होता है। पार्यन्तिक भूत सत्ता में अवरोधकता, संस्थान, परिमाण, संयोग-विभाग, उत्पत्ति-विनाश, पृथक्त्व, संख्या आदि धर्म रहते हैं और संख्या-प्रधान सूत्रों से रचना और गति के नियम निर्धारित होते हैं। दृश्य जगत् की मूल सत्ता का ज्ञान एक गतिशील या क्रियाशील, किन्तु नियमान्वयी रूप में होता है।

अस्तित्व के इस प्राकृतिक भेद पर विचार करते हुए यह बात सामने आती है कि यद्यपि वह प्रत्यक्ष-योग्य और क्रियाशील रूप से देश-काल में पृथक्-पृथक् स्वभाव के द्रव्यों में विभक्त है, तो भी उसके नियामक तत्त्व न तो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के गोचर हैं, न क्रियाशील हैं, न देश-काल में अवस्थित हैं। ये नियामक तत्त्व संख्या से परिभाषित हैं। प्रकृति की सभी क्रियाओं में संख्यागत नियम मिलते हैं, द्रव्यों के परिमाण भी संख्या-नियत क्रियाओं से निष्पन्न होते हैं। प्राकृतिक अस्तित्व की नियमात्मकता सभी व्यवहार में स्वीकार होती है। किन्तु ये नियम बुद्धिगोचर होते हैं और प्रत्यक्ष घटनाएँ इन नियमों को दृष्टान्तित करती प्रतीत होती हैं। इसलिए यह मानना होगा कि प्राकृतिक अस्तित्व एक बुद्धिगोचर तात्त्विक अस्तित्व से नियन्त्रित है।

यह एक विचार और विवाद का विषय रहा है कि संख्या-तत्त्व क्या है, कि तत्त्व-बुद्धि क्या है, कि तत्त्व ही क्या है? तत्त्व का अस्तित्व सामान्यात्मक होता है। वह द्रव्यों, गुणों और क्रियाओं के समान विशेष रूप से प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होता।

प्रत्यक्ष-गोचर विश्व को प्राकृतिक कहना युक्तियुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष विषयों ओर उनके विश्व का मानवीय प्रतीति से स्वतन्त्र होना उनका एक प्रकट लक्षण है। उसमें जो नील आदि धर्म, अवयवी या संघात, और सूक्ष्मतम परमाणु-रूप त्रिविध भेद ऊपर वर्णित किये गये हैं, सबमें स्वतः या परम्परया प्रत्यक्ष-योग्यता और क्रियात्मकता के लक्षण मिलते हैं।

यह स्मरणीय है कि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष सर्वथा अभ्रान्त नहीं होता। उपकरणों से यह पता चलता है कि इन्द्रियों से संवेद्य विषयाकार स्थूल और सापेक्ष रूप से ही यथार्थ कहे जा

सकते हैं, यद्यपि सामान्य व्यवहार में उनके अभ्यस्त विशोधन के साथ वे अविसंवादक रूप से सत्य माने जाते हैं। इस विषय की चर्चा आगे की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है कि सामान्य व्यवहार का विश्व स्थूल प्रत्यक्ष का ही विश्व है। उसमें विषयों के सूक्ष्म कारण-रूप की, उनकी निरन्तर चलनात्मकता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। किन्तु यह पता रहता है कि साधारण प्रत्यक्ष वस्तु-स्वरूप से भिन्न किन्तु उसके आसन्न भास को स्थूलरुद्धति-न्याय से क्रमशः प्रकट करता है और उसकी स्थूलता और आभासिकता निश्चित नियमों से परिष्कार्य होती है। चन्द्रमा छोटा दीखता है, पानी में लकड़ी टेढ़ी दीखती है, नाव से किनारा उलटा चलता दीखता है, पोली सतह ठोस दीखती है, वृत्त दीर्घवृत्त दीखता है इत्यादि प्रत्यक्ष आभास अयथार्थ होते हुए भी यथार्थ के साथ निश्चित नियमों से जुड़े हैं। हमें लाल फूल, तपता कोयला, शीतल जल, ठोस पत्थर आदि के ज्ञान में नाना गुणों से युक्त अलग-अलग द्रव्य प्रतीत होते हैं। शिला पर बैठते समय हम यह नहीं सोचते कि उसमें वस्तुतः असंख्य पारमाणविक घटनाएँ एक बृहत् रिक्तता में उत्पन्न-विनष्ट हो रही हैं जिसे हम ठोस भौतिकता मानते हैं। वह अपने सूक्ष्म कारण-रूप में ऊर्जा में परिवर्तित हो सकती है। प्रत्यक्ष-गोचर सामान्य व्यवहार का विश्व नाना संवेद्य अवयवी द्रव्यों और उनमें आश्रित गुणों और क्रियाओं का विश्व है। न्याय-वैशेषिक में उपलब्ध विवरण का एकदेश सर्वविदित लौकिक अनुभव के निकट है जबकि बौद्धों के वर्णित संस्कार-प्रवाह के रूप में विश्व का वर्णन परमाणु भौतिकी के निकट है। दोनों ही प्राकृतिक विश्व के चित्र हैं, दोनों में प्राकृतिक अस्तित्व मानव-चेतना से स्वतन्त्र, स्वतः अचेतन है।

यदि हम सामान्य लौकिक व्यवहार की ओर देखें तो हम कह सकते हैं कि किसी द्रव्य को अन्य द्रव्य से अलग करती हुई और उस द्रव्य को अपने गुण-कर्मों से परिभाषित इकाई बनाती हुई नियमाकता का आधार उस द्रव्य का स्वभाव, स्वलक्षण या तत्त्व कहा जा सकता है। इस तात्त्विक अस्तित्व को अनेक अन्योन्य प्रतियोगी लक्षणों से लक्षित देखा जा सकता है। उसमें स्व और अन्य, एक और अनेक, भेद और अभेद, शक्ति और व्यक्ति आदि लक्षणों की व्याप्ति देखी जा सकती है, उसमें विभाज्यता और अविभाज्यता दोनों रहते हैं। स्वगत सजातीय और विजातीय विभाज्यता रहती है, किन्तु सत्ता उसका एक धर्म माना जाता है। विचार-गोचर सामान्य तत्त्व होते हुए भी यह तात्त्विक सत्ता प्रत्यक्ष द्रव्यों के विश्लेषण से पता चलती है। इस प्रकार एक द्वंद्वात्मक परिस्थिति उपस्थित होती है। प्रत्यक्ष विशेषों पर ही ध्यान देने से सामान्य का ठीक अवधारण नहीं होता किन्तु प्रत्यक्ष छोड़ देने पर सामान्य लुप्त हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि यह स्थिति विशिष्ट द्रव्यों के नियामक तत्त्वों के विषय में है, क्योंकि इस प्रकार के तत्त्व खण्ड सत्ता के उदाहरण हैं। अखण्ड सत्ता स्वतः सम्भाव्य होती है और उसकी सम्भावनाएँ विशुद्ध बुद्धि की गोचर होती हैं। यह अखण्ड तात्त्विक सत्ता सब प्रकार के विशेषों का मूल है और इसका पता बुद्धि से ही चल सकता है। इस प्रकार की बात का कुछ आभास विशुद्ध गणित और तर्क शास्त्र में

मिलता है। अन्य विद्याओं में भी यह अभीप्सा रहती है कि वे अपने नियम एक मूलभूत स्वतःसिद्ध सत्ता से प्राप्त कर सकें, ताकि वे प्रत्यक्ष ज्ञान-जनित विसंगतियों, भ्रान्तियों और प्रत्यक्ष ज्ञान में निहित आगन्तुक सीमाओं से मुक्त हो सकें।

यहाँ पर अस्तित्व के अर्थ का ही पुनर्विवेचन आवश्यक है। वाक्यों में 'है' का प्रयोग तीन प्रकार से होता है : आकाश है, आकाश नीला है, पीपल मन्दिर के दक्षिण में है, या वृत्त की परिधि के व्यास का आपेक्षिक मान पाई होता है, या पुत्र का जन्म पिता के जन्म के बाद होता है। इन तीन प्रकार के वाक्यों में 'है' का प्रयोग तीन अलग-अलग अर्थों में किया गया है। पहले वाक्य 'आकाश है' में आकाश में किसी का धर्म विधान नहीं है, बल्कि आकाश की सत्ता का अभिधान है। 'आकाश नीला है' में आकाश की सत्ता का विधान नहीं है, दूसरे वाक्य में आकाश रूपी धर्मी में 'नीलेपन' के धर्म का 'है' द्वारा विधान किया गया है। विधान ही धर्मी और धर्म की संसर्गता का अभिधान है। तीसरे वाक्य में दो धर्मों या धर्मियों के सम्बन्ध का अभिधान है। इस प्रकार पहले प्रकार के उदाहरण में धर्मियों की सत्ता मानने पर सम्बन्ध का अस्तित्व भी वास्तविक हो जाता है, किन्तु शेष में विभिन्न प्रकार से सम्बन्धों की ही परिभाषा है। जैसे हम कहें कि 'रावण के दस सिर थे।' इस वाक्य में रावण की सत्ता का विधान नहीं है। 'रामगुप्त गुप्त शासक था,' इस वाक्य में रामगुप्त की ऐतिहासिक सत्ता का अभिधान है। इस प्रकार 'है' के तीन सुविदित प्रयोग हैं—धर्म-धर्मी भाव के अभिधान में, सत्ता के अभिधान में, और सम्बन्ध के अभिधान में। एक में होने के प्रकार का निर्देश होता है, भले ही जिसे होने के प्रकार का दृष्टान्त माना गया है वह वास्तविक हो अथवा न हो। अर्थात् ये अस्तित्व के निर्देश उसकी अवधारणा के प्रकार हैं। इन प्रकारों से अवच्छिन्न सत्ता इन्हीं मौलिक अस्तित्व के प्रकारों में हो सकती है, किन्तु प्रकार विचार-गोचर कोटियाँ हैं। अतएव उनके अभिधान से वस्तु-सत्ता के विचार्य-विषय में आवश्यक रूप से सत्ता-विधान नहीं होता। दूसरी ओर सत्ता या वास्तविकता का अभिधान उसका प्रकार नहीं बतलाता। अतः यद्यपि 'है' के उपर्युक्त तीन भेद सुविदित हैं किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि वे सर्वथा स्वतंत्र हैं। वस्तु-सत्ता का विधान उसी प्रकार से विवक्षापूर्वक है जैसे वाक्य के कथन में उसके प्रामाण्य का। राखालदास वन्द्योपाध्याय के उपन्यास 'शशांक' में घटनाओं और पात्रों का विवरण हम काल्पनिक मानते हैं, न कि प्रामाणिक, क्योंकि लेखक का उद्देश्य प्रामाणिक इतिहास लिखना नहीं था। बाण के 'हर्ष चरित' में क्या ऐतिहासिक है, क्या नहीं, यह निर्णय करने के लिए हमें विचार और अनुसंधान की आवश्यकता होती है, तो भी यह पता नहीं कि दिवाकर मित्र था या नहीं। क्योंकि यह पता नहीं कि यहाँ बाण का उद्देश्य वास्तविक मनुष्य का वर्णन करना है अथवा नहीं। किसी वस्तु या घटना की वास्तविकता उसके विवरण से पता नहीं चल सकती, क्योंकि काल्पनिक और वास्तविक वस्तु के विवरण में कोई अन्तर नहीं होता। तब यह प्रश्न उठता है कि किसी वस्तु की कल्पना में और उसकी वास्तविकता में किस बात से अन्तर स्पष्ट होता है? मैं यह

कल्पना करता हूँ कि मैंने किसी अज्ञात व्यक्ति को सौ रुपये उधार दिये, समय बीतने के साथ मैं यह भूल जाता हूँ कि यह मेरी कल्पना है। अब मैं यह सोचता हूँ कि मैंने रुपये उधार दिये थे, वे मुझे मिलने चाहिएँ। उधार वापस न मिलने से यह तय नहीं होता कि मैंने उधार दिये थे या नहीं? उधार देना वास्तविक है या काल्पनिक, इसके निर्णय का कोई तरीका नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी विषय की वास्तविकता के लिए उस विषय की पहिचान के लिए आवश्यक धर्मों के अतिरिक्त भी किसी धर्म की आवश्यकता होती है। इस अतिरिक्त धर्म को सत्ता कहना प्रसिद्ध है।

सत्ता जिन आधारों में पायी जाती है और प्रायः स्वीकार की जाती है उनमें प्रत्यक्ष-योग्य व्यक्ति-पदार्थ सर्वविदित हैं। इन पदार्थों के उदाहरण हैं घट और पट, नील और पीत, कम्पन और गमन। इन्हें द्रव्य, गुण और कर्म की संज्ञा दी जाती है और इन संज्ञाओं से अस्तित्व के कुछ मुख्य प्रकार निदर्शित होते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार सत्ता इन्हीं पदार्थों में रहती है।

घट हो या उसके अवयव के रूप में कपाल हो, ये अलग-अलग प्रत्यक्ष के योग्य होते हैं। घट और उसके अवयवों में कुछ सम्बन्ध होते हुए भी वे पृथक्-पृथक् इकाइयों के रूप में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि घट की सत्ता उसके अवयवों के विशेष संयोग से उत्पन्न होती है, किन्तु घट की सत्ता पृथक् है और अवयवों की सत्ता पृथक् है। ऐसे ही नील और पीत, उष्ण और शीत, मीठा और खट्टा आदि गुणों का अलग-अलग आधारों में अलग-अलग अनुभव होता है। यही स्थिति क्रिया के विषय में है। द्रव्य की उपलब्धि द्रव्य-व्यक्ति के रूप में होती है, गुण और क्रिया द्रव्यगत रूप में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार नाना द्रव्यों, गुणों और कर्मों की उपलब्धि अलग-अलग देश-कालों में व्यक्ति रूप में होती है। प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व पृथक् है। एक घट के नष्ट होने से अन्य घट नष्ट नहीं होते, एक घट की कालिमा नष्ट होने से अन्य घट की कालिमा नष्ट नहीं होती, न एक घोड़े का दौड़ना बन्द होने से अन्य घोड़ों का दौड़ना बन्द होता है। द्रव्य-सत्ता व्यक्ति सत्ता है। यह सत्ता प्रत्यक्ष योग्य, सविशेष, देश-काल में अवस्थित, अविच्छिन्न प्रवाहात्मक और अनित्य होती है, किन्तु इसी से व्यावहारिक प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

अनेक व्यक्तियों में समान रूप से उपलब्ध धर्म सामान्य कहा जाता है। ये धर्म अनेक प्रकार के होते हैं। कभी ये विषय के सारभूत विशेषण होते हैं, कभी आगन्तुक मात्र। मनुष्यों में मनुष्यत्व समान धर्म है, किन्तु लँगड़ा होना आगन्तुक धर्म है। लँगड़ों में लँगड़ापन समान होते हुए भी लँगड़ापन और मनुष्यत्व समान स्तर के समान धर्म नहीं हैं। उसके एक प्रकार को कुछ विचारक नित्य मानते हैं और उसकी उपलब्धि का साधन तुलनात्मक ज्ञान अथवा बुद्धि का एक विशेष प्रकार अथवा एक प्रकार का प्रत्यक्ष ही मान लेते हैं। नियत उपलब्धि का विषय होने के कारण सामान्य का अपने प्रकार का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, किन्तु यह अस्तित्व द्रव्य-सत्ता या प्रत्यक्ष व्यक्ति-सत्ता से नितान्त भिन्न है। सामने जलते

अंगारों को न देखने पर भी प्राणी का पैर उनसे जल जाता है, किन्तु अग्नितत्त्व का ज्ञान हुए बिना भी अग्नि से बचा जा सकता है। स्पष्ट ही तात्त्विक अस्तित्व में किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती, इसलिए उसमें प्रत्यक्ष की विषयता भी नहीं है।

सामान्य के विषय में तीन पक्ष प्रसिद्ध हैं—एक पक्ष उनके अस्तित्व को स्वतन्त्र मानता है, दूसरा उसे बौद्धिक प्रत्यय मानता है, तीसरा उसे व्यावृत्ति मानता है। जो प्रत्यक्ष को ही वास्तविकता का मुख्य प्रमाण मानते हैं, वे सामान्य तत्त्वों के अस्तित्व को व्यावृत्ति-रूप विकल्प ही मान सकते हैं। अनेक घड़ों को देखकर उनके समान धर्मों के लिए एक अलग शब्द गढ़ लेते हैं 'घटत्व'। इस दृष्टि से घटत्व घटों से पृथक् कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, न उसका ज्ञान घटों के ज्ञान के बिना हो सकता है। यों कहा जाय कि घटत्व या अग्नित्व अनेक व्यक्तियों को भूलकर उनके समान धर्मों के लिए एक संक्षिप्त संकेत है। ये समान धर्म व्यक्तियों में ही सत्ता-लाभ करते हैं और व्यक्तियों के न रहने पर उनकी न उपलब्धि हो सकती है, न उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही माना जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्यक्ष-गोचर व्यक्ति-पदार्थों की उपलब्धि के प्रसंग में ही सामान्य तत्त्वों की प्रारम्भिक उपलब्धि होती है। किन्तु व्यक्ति-रूप धर्मों और धर्मियों के सामान्य तत्त्व की प्रतीति आगन्तुक धर्म के रूप से नहीं होती, प्रत्युत उनके सारभूत, प्राणतत्त्व के रूप में होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति-सत्ता स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हो जाती है, और फिर उनकी तुलना करके मनमाने ढंग से सामान्य धर्मों की प्रयोजनानुसार हम कल्पना करते हैं और इन व्यावृत्तियों के लिए संकेत गढ़ लेते हैं। यह सही है कि सामने रखी वस्तु को हम कभी घड़ा कहते हैं, कभी बर्तन, कभी सामान, कभी मिट्टी की चीज़, कभी कलाकृति, कभी भौतिक पिण्ड। उनमें घटत्व की कल्पना प्रत्यक्ष-प्रदत्त व्यक्ति-पदार्थ में प्रयोजन-सापेक्ष व्यावृत्ति या विकल्प ही कही जा सकती है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति-सत्ता में उसकी एक इकाई या अवयवी के रूप में जो सत्ता है, उसका एक नियत आधार होता है। यह आधार उपादान मात्र न होकर उसका रचना-नियम और मूल आकार भी होता है।

घट बनाने में कुम्हार के मन में घट का एक चित्र प्रस्तुत रहता है। उसे उन नियमों का भी ध्यान रहता है जिनके अनुसार मिट्टी गीली की जाती है, गूँथी जाती है, और उसका पिण्ड चाक में घुमाया जाता है। घटत्व यथोपस्थित वस्तुके किसी एक पक्ष या कल्पना से उद्ग्रहण कर उसे दी गई संज्ञा मात्र नहीं, बल्कि उसका नियामक सारभूत तत्त्व है। किसी व्यक्ति-सत् की पहचान उसके किसी आगन्तुक धर्म या उपाधि से हो सकती है, और उसके विलक्षण सार-तत्त्व से भी हो सकती है। इस प्रकार व्यक्ति के सामान्य धर्म औपाधिक भी हो सकते हैं और तात्त्विक भी। तात्त्विक धर्म के अनुसार व्यक्तियों को निश्चित और स्थिर समुदायों में विभक्त किया जा सकता है। इन समुदायों को स्वभावमूल मानकर उन्हें जाति कहा जाता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति-सत्ता में दो प्रकार के सामान्य मिलते हैं, एक जो

उस व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से अलग करते हैं, दूसरे वे जो उसे एक जाति का उदाहरण बनाते हैं। व्यक्तित्व के निर्धारक धर्म भी अपने आप में सामान्य होते हैं, किन्तु वे सब व्यक्तियों में ठीक उसी प्रकार से नहीं मिलते। उदाहरण के लिए किसी प्राणि-जाति में व्यक्तियों के आकार-प्रकार एक औसत के निकट रहते हुए भी एक-से नहीं होते। वस्तु-सत्ता के लक्षण या परिचायक धर्म सामान्य होते हुए भी न्यूनाधिक रूप से सामान्य और विशेष कहे जाते हैं। इन विशेषभूत सामान्यों को स्वलक्षण और जातीय सामान्यों को सामान्य लक्षण भी कहा जाता है।

इस प्रकार लक्षणमात्र सामान्य ही प्रतीत होता है, किन्तु सामान्य न केवल जाति-परिचायक धर्म है, प्रत्युत विशेष बनकर व्यक्ति का भी परिचायक बनता है। उदाहरण के लिए वायु का लक्षण स्पर्शगुण और गतिशीलता माने जाते हैं, किन्तु सब वायु के उदाहरणों में स्पर्श और गति एक ही नहीं होती, कहीं वह तेज तप्त लू का बवण्डर होता है, कहीं वह मन्द मलयानिल होती है। एक ही जाति के विभिन्न व्यक्तियों में समान लक्षण और असमान लक्षण मिलते हैं, किन्तु वे सभी लक्षण न्यूनाधि रूप में सामान्य ही होते हैं। यदि नितान्त असामान्य विशेष की कल्पना कर उसके द्वारा व्यक्ति-सत्ताओं को अलग-अलग किया जाय तो ये अत्यन्त विशेष व्यक्तियों के समान ही असंख्यक होंगे और प्रत्येक के लिए एक अलग नाम और पहचान देनी होगी, इन नामों का कोई निर्वचन सम्भव नहीं होगा। कैसे सामान्य धर्म से नितान्त भिन्न इन विशेषों का ज्ञान होगा यह भी बताना कठिन है। इसी प्रकार यदि सर्वथा निर्विशेष सामान्य की कल्पना की जाय तो वह एक अखण्ड और दुर्बोध धर्म बन जाएगा। असंख्य अप्रत्यक्ष तत्त्व मान्य होंगे जिनके ज्ञान का कोई उपाय नहीं होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य और विशेष दोनों सापेक्ष धर्म हैं और दोनों प्रत्यक्ष सत्ता की पहचान के विभिन्न सोपान हैं। विशेष धर्म या व्यक्ति पदार्थ की यह पहचान है कि उसका पूरा परिचय शब्दों से नहीं दिया जा सकता, उसका ज्ञान निःशेष रूप से अन्य ज्ञानों में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। जो नील संवेदन में प्रतिभासित होता है, वह अन्य किसी रंग में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि नीले रंग का प्रतिभास जिन प्रकाश-तरंगों के कारण होता है उनकी यथावत् पुनरावृत्ति से ठीक वैसा ही रंग पैदा किया जा सकता है। प्रयोगशाला में कैमरे का चित्र दोनों बार एक-सा होगा। किन्तु दो संवेदन कभी एक से नहीं होते, उनमें धारावाहिक ज्ञान के स्थल में भी कालकृत भेद रहता है। मानवीय अनुभव में तो यह असंदिग्ध है कि प्रत्येक संवेदन विलक्षण होता है और इसीलिए संवेदन-प्रदत्त विषय विशेष धर्म होता है, जैसे नीलादि, या व्यक्ति-धर्म होता है, जैसे वह सामने उपस्थित पुरुष। प्रत्यक्ष संवेदन में विशेष सत्ता का पता चलता है, जितना अधिक हम व्याख्या-रहित और तुलना-रहित रूप में तात्कालिक संवेदन के विषय की उपलब्धि करते हैं उतना ही हम विशेष के निकट पहुँचते हैं। इसीलिए कुछ विचारकों ने एक पर्यन्तगत अवस्था की कल्पना की है, जिसमें संवेदन और उसका विषय दोनों उसी तरह से

तात्कालिक होंगे जैसे कि अनुभव-वृत्त को छूती हुई विषयात्मक स्पर्श-रेखा का उससे संयोग बिन्दु। यदि हम एक ओर विषय को क्षणिक घटनाओं की धारा मानें और दूसरी ओर चेतना को एक समानान्तर धारा मानें तो संवेदन इन दो धाराओं के क्षणिक बिन्दुओं का सम्बन्ध माना जा सकता है। इस सम्बन्ध के यथावत् स्वरूप का विचार हम पीछे करेंगे, यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि वास्तविक विषय संवेदन का इसी प्रकार से हेतु होता है और संवेदन विषय की सूचना देता है। यह सही है कि सभी संवेदनों में विषय की वर्तमानता की प्रतीति होती है, किन्तु यह प्रतीति भ्रान्त भी हो सकती है। अभ्रान्त संवेदन के विषय की संवेदनात्मक प्रतीति अपनी पार्यन्तिक स्थिति में निर्विकल्पक होनी चाहिए। वह एक अविश्लेषित, सघन और अद्वितीय प्रतीति का क्षण होता है। उसका विषय भी उसी प्रकार से अविभक्त और अद्वितीय होता है।

वस्तुतः भेद और समानता सापेक्ष धर्म हैं। भेद को असमानता कह सकते हैं, समानता को अभेद। अनुभव सदा ही अपने विषयों में समानता और असमानता की उपलब्धि के साथ होता है। संवेदन का क्षण एक प्रदत्त प्रवाह में तात्कालिकता की सीमागत स्थिति की कल्पना है। प्रवाहगत अविच्छिन्नता को क्षणों के भेद को भूल जाने से उत्पन्न भ्रान्ति मानना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि वह व्यावहारिक रूप से अविसंवादक है। दूसरी ओर यह सही है कि उपकरण यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रत्यक्ष में अविच्छिन्नता विच्छिन्नता पर आरोपित है, क्योंकि इन्द्रियाँ एक सीमा के ऊपर या नीचे के विषय-अविघातों को ग्रहण नहीं करती।

तात्कालिक और अविश्लेषित संवेदन के विषय में प्रतीति उसके अस्तित्व और विशेषता के साथ होती है। तुलना और विश्लेषण से विषयों के सम्बन्ध पता चलते हैं। उन सम्बन्धों के विश्लेषण से सामान्य तत्त्वों का पता चलता है। जहाँ प्रत्यक्ष विषय के अस्तित्व को विशेष रूप में प्रदर्शित करता है वहीं बौद्धिक तुलना इन विषयों में समानताएँ और असमानताएँ देख पाती है। इस प्रकार एक सापेक्ष द्वंद्व के रूप में सामान्य और विशेष का विवेचन हो पाता है। बौद्धिक विवेचन और तुलना प्रत्यक्ष को झुठलाती नहीं है, न वह वस्तु-सत्ता का अतिक्रमण कर अवास्तविकता में विचरती है। नील की प्रतीति अविश्लेष्य है और इसीलिए नीलत्व भी एक पृथक् तत्त्व प्रतीत होता है। वस्तुतः नील प्रत्यक्ष-गोचर है और उसका तत्त्व प्रकाश का वैशिष्ट्य एवं चक्षुरिन्द्रिय की बनावट और इन दोनों के सम्बन्धित होने पर निर्भर करता है। अर्थात् नीलत्व को स्वरूपतः प्रतीति-प्रदत्त नहीं माना जा सकता, न उसे व्यावृत्तिमूलक संज्ञा ही माना जा सकता है, क्योंकि उसे न तो वस्तुगत माना जा सकता है, न प्रत्यक्ष प्रतीति-गोचर। नीलत्व को नील-संवेदन की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त हेतु-प्रत्यय सामग्री ही माना जा सकता है।

रूप के प्रत्यक्ष में रंग के साथ आकार का भी प्रत्यक्ष होता है। आकारों का तुलनात्मक विश्लेषण उनके विषय में ऐसे अनेक तथ्यों का आविष्कार करता है जो प्रत्यक्ष

मात्र से अवगत नहीं होते। ये बुद्धिगोचर तथ्य प्रत्यक्ष आकारों का यथावत् निरूपण करते हैं। प्रत्यक्ष आकारों से आरम्भ कर बौद्धिक विश्लेषण उनके अतीन्द्रिय-कल्प तत्त्वों का विज्ञान रचता है। यहाँ जिन सामान्य तत्त्वों का ज्ञान होता है वे बुद्धिगोचर भी होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु के नियामक भी। जो स्थिति आकारिक तत्त्वों की है वही संख्या और गणना के तत्त्वों की है।

रूप, स्पर्श आदि प्रत्यक्ष धर्मों, उनसे विशिष्ट धर्मियों और उनके हेतु-भूत सूक्ष्म धर्मियों के धर्मों में संख्या, आकार और मान उनकी क्रियाओं में अन्तर्व्याप्त रूप में नियामक होते हैं। अर्थात् जो प्रत्यक्ष धर्मों से विशिष्ट स्थूल और सूक्ष्म प्राकृतिक द्रव्य हैं, अथवा क्रियात्मक घटनाएँ हैं, उनमें भी संख्या आदि साधारण गुण स्वभावतः रहते हैं और उनके स्वाभाविक नियामक सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए जल के अणु में ओशजन का एक परमाणु और उद्जन के दो परमाणु संयुक्त रहते हैं। उद्जन के एक परमाणु में एक इलैक्ट्रॉन नाभि की परिक्रमा करता है, ओशजन के एक परमाणु में आठ इलैक्ट्रॉन दो वृत्तों में नाभि की परिक्रमा करते हैं। अणुओं की स्वाभाविक विशेषताएँ परमाणु की संख्याओं पर, परमाणुओं की प्रोटोन्स की संख्याओं पर निर्भर करती हैं। जो जल आदि यौगिक अणु हैं उनके गुण परमाणुओं की संख्या और सन्निवेश पर निर्भर करते हैं। कार्य का अस्तित्व और स्वभाव कारण पर निर्भर करता है, इसे प्रायः सभी मानते हैं। किन्तु अवधेय यह है कि सूक्ष्म कारणों के विषय में ज्ञान उनके अनुमेय संख्या आदि साधारण गुणों पर निर्भर करता प्रतीत होता है।

प्रत्यक्ष क्रियात्मक प्राकृत-सत्ता व्यक्तिशः पता चलती है, किन्तु इन द्रव्यसत् व्यक्तियों के स्वभाव का पता उनकी तुलना से चलता है। परिणाम यह है कि अविश्लेष्यवत् उपस्थित विशेषों और व्यक्तियों को समझने के लिए विश्लेषण के द्वारा हमें उनके साधारण तुलनात्मक धर्मों को जानना पड़ता है। नील आदि प्रतीति के रूप में अविश्लेष्य हैं, किन्तु इन प्रतीतियों के हेतु के रूप में विद्यमान द्रव्य और क्रियाओं का स्वभाव साधारण धर्मों की विशेष उपस्थिति होती है। एक ओर संवेद्य विशेष गुणों से लक्षित सत्ता है, दूसरी ओर इसकी आधारभूत भौतिक सत्ता निरन्तर क्रियाशील क्षणिकवत् परमाणुओं की सत्ता है, जिनके स्वभाव अन्ततः संख्या और क्रम जैसे साधारण और आपेक्षिक धर्मों से नियत होते हैं। यह बात विचारणीय है कि जो धर्म प्रत्यक्ष स्वभाव के नियामक हैं और इस प्रकार वस्तुनिष्ठ माने जाने चाहिए, वे ही अपेक्षा-बुद्धि पर निर्भर करते हैं और उनका तत्त्व बुद्धि द्वारा पता चलता है।

संवेदन-गोचर सत्ता की नियामकता बुद्धि-गोचर तत्त्वों में मिलती है। संवेदन-गोचर विशेष गुण और बुद्धि-गोचर सामान्य तत्त्व उसी सत्ता को जानने के क्रम में प्रकट होते हैं। इसलिए यह मानना चाहिए कि प्रत्यक्ष-गोचर वस्तु में अस्तित्व और तत्त्व दोनों एक-साथ रहते हैं, किन्तु वस्तु का पहला परिचय विशेष गुणों से होता है, उसके तत्त्व का परिचय दीर्घ

परीक्षण और अनुसन्धान से। नियमों के कार्यात्मक उदाहरण प्रत्यक्ष होते हैं, नियम प्रत्यक्ष नहीं। इसी प्रकार विशेष गुण प्रत्यक्ष होते हैं, उनके अपेक्षा-बुद्धि पर निर्भर साधारण गुण और तत्त्व प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होते। इसी आशय से आचार्यवर ने कहा था कि सम्बन्ध का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता।

यह आपत्ति की जा सकती है कि इस तरह की धारणा अनुभव-विरुद्ध है। रंग के साथ आकार का भी प्रत्यक्ष होता है, स्पर्श के साथ परिमाण का, शब्द के साथ दूसरी ओर क्रम का। सभी प्रत्यक्षों में मात्रा-भेद और एक और अनेक के रूप में संख्या का पता चलता है। ये आपत्तियाँ सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष मानने से होती हैं, किन्तु व्यावहारिक या सविकल्पक प्रत्यक्ष और उससे अविच्छिन्न तात्कालिक संवेदन के रूप में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में घटित नहीं होतीं। यह आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रकार का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अवास्तविक है। पर वह उतना ही वास्तविक या अवास्तविक है जितना रेखा में बिन्दु या काल-प्रवाह में क्षण। तात्कालिक संवेदन के विषय में यह भी प्रश्न उठता है कि वह अवयवी को विषय बनाता है या कि किसी अन्त्यावयव को। यह अवश्य मानना होगा कि संवेदन में अपनी तात्कालिकता और विच्छिन्न तन्मात्रता के अतिक्रमण की सहज प्रवृत्ति है, क्योंकि ऐन्द्रिय संवेदन और मनोविकल्प अत्यन्त संकीर्ण नहीं हैं। ज्ञान के रूप में संवेदन मन का सजातीय है। संवेदन के रूप में जो स्फुट विशेषात्मक और स्वविश्रान्तवत् ज्ञान उत्पन्न होता है वही समानान्तर भावी मानसिक वृत्ति से विकल्पित होता है।

एक दृष्टि से व्यावहारिक ज्ञान की कोटियों को ही अस्तित्व के प्रकार समझा गया है। व्यावहारिक सविकल्पक ज्ञान को ही मुख्य प्रमाण मानने पर उसमें विशेष्य के रूप में ज्ञान-विषय को, जो विशेषणों से विशेषित होता हुआ भी स्वयं विशेषण नहीं बनता, स्वतन्त्र धर्मों या द्रव्य कहा गया है। द्रव्य का ज्ञान उसके अपने विशेषणों से होता है और वह कार्य-रूपापन्न के उपादान के रूप में एक पृथक् व्यक्ति होता है, यद्यपि उसमें व्यक्ति-धर्म और जाति दोनों रहते हैं। द्रव्य में स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रकार ही सत्ता है। अन्य सभी धर्मों के द्रव्याश्रित होने से उनको ही सत्ता का लाभ होता है। इस प्रकार व्यावहारिक सविकल्पक प्रत्यक्ष में जिस विषय का अस्तित्व प्रतीत होता है वह स्वलक्षण और सामान्य लक्षण से लक्षित स्वभाव से नियत संघात या अवयवी होता है। प्रत्यक्ष-गोचर यह अवयवी एक पृथक् व्यक्ति के रूप में मिलता है। प्रत्यक्ष-गोचर व्यक्तियों में निर्वचनीय स्वभाव के अतिरिक्त एक अनिर्वचनीय विशेषता बनी रहती है। उसी से उनकी सत्ता या वास्तविकता का पता चलता है। किन्तु यह सत्ता सर्वथा अनिर्वचनीय नहीं होती। वस्तु में सत्ता की प्रतीति वस्तु की ज्ञान से स्वतन्त्रता की प्रतीति के साथ होती है। इस प्रकार सत्ता या वास्तविकता को जिन लक्षणों से परिभाषित किया जा सकता है वे हैं प्रत्यक्ष-योग्यता, स्वतन्त्रता, स्वभाव से नियत कार्य-सामर्थ्य। इस प्रकार की सत्ता से लक्षित है ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का गोचर विश्व, जो वास्तविक जगत् कहलाता है। यह वास्तविक विश्व अपने स्थूल

कार्य-रूप में व्यावहारिक प्रत्यक्ष-गोचर है, अपने सूक्ष्म कारण रूप में औपकरणिक प्रत्यक्ष और अनुमान का गोचर होता है। यह सूक्ष्म कारण-सत्ता जिन नियमों से नियत है वे नियम बुद्धिगोचर हैं।

दूसरी ओर वैज्ञानिक अनुसन्धान की दृष्टि से यदि तात्कालिक और औपकरणिक प्रत्यक्ष को यथार्थ का ग्राहक स्वीकार किया जाए तो, जिसे द्रव्य कहा जाता है वह विकल्पापेक्ष संघात और सन्तान मात्र ही सिद्ध होगा। जो विषय की स्वतन्त्रता उसी वास्तविकता को परिभाषित करती है, वह उसकी ज्ञान से स्वतन्त्रता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता विकल्पित द्रव्यात्मक विषयों में नहीं होती, वह प्रत्यक्ष-प्रदत्त तात्कालिक धर्मों में होती है, जो अपने स्वलक्षणों के धारक होते हैं।

एक ओर सत्ता इन्द्रियगोचर आभासों में प्रकट होती है, दूसरी ओर बुद्धिगोचर नियामक तत्त्वों में। जैसे-जैसे स्थूल व्यावहारिक अवयवी द्रव्यों को उनकी हेतु-प्रत्यय-सामग्री में विश्लेषण किया जाता है, वैसे-वैसे वे तात्कालिक घटनाओं के प्रवाह में विलीन होते जाते हैं। इन घटना-शृंखलाओं में नियमों की व्याप्ति ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के परे प्रज्ञा का विषय बनती है। यह कहा गया है कि रूप, रंग और स्पर्श आदि के प्रतिघात लक्षित विषयों के विश्व की रचना किसी गणितज्ञ के सूत्रों से हुई है। किन्तु ये संख्यादि धर्म न तो सप्रतिघ रूपस्कन्ध में डाले जा सकते हैं न चित्तचैत्यस्कन्धों में, किन्तु तो भी ये बुद्धिग्राह्य प्रज्ञासिद्ध सूत्र भौतिक घटनाओं के नियामक कैसे बनते हैं, यह चुनौति भरा रहस्य है।

क्रमशः



अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध¹

यशदेव शल्य

दर्शन प्रायः आरम्भ से ही बाह्य वस्तु के अस्तित्व को, या उसके स्वरूप को लेकर समस्या में रहा है। बाह्य वस्तुएँ दिखायी देती हैं और उनके दिखने-न दिखने से निरपेक्ष उनके अस्तित्व में विश्वास हमारे उस देखने में अन्तर्निहित रहता है। इसी से हमारा जगत् होता है, जिसमें हम रहते-करते-जीते और मरते हैं। ऐसा कहने में हमें कोई दुविधा का कारण दिखायी नहीं देता कि बाह्य वस्तुविषयक यह विश्वास जीव मात्र में सहज रूप से रहता है। किन्तु इस विश्वास पर थोड़ा भी विचार इस विश्वास की युक्तता के सम्बन्ध में सन्देह खड़ा कर देता है। वस्तुओं की यथाप्रतीति में यह सन्देह जिस प्रकार से आरम्भ और अग्रसर होता है, यह दर्शन के सब विद्यार्थी जानते हैं। इस सन्देह का आरम्भ प्रत्यक्ष विषयक भ्रम के और स्वाप्न प्रत्यक्षों की जागृत प्रत्यक्षों से समानता के आकलन से होता है। ये दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष साधारण प्रत्यक्षों को परतःप्रमाण सिद्ध कर देते हैं। अर्थात् बाह्य विषयों की वास्तव :वस्तुनिष्ठः उपस्थिति के लिए ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष अपने-आपसे पर्याप्त प्रमाण नहीं होते, ये प्रत्यक्ष स्वयं से तो वस्तु-सत्ता को पूर्वगृहीत कर उसके लिए उनके भ्रान्त सिद्ध नहीं होने तक केवल सामूहिक रूप से प्रमाण बनते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी प्रत्यक्ष, या कितने भी प्रत्यक्ष, वस्तु के प्रापक नहीं होते। यों थोड़ा ध्यान से देखें तो इन प्रमाणों और इनके प्रमेयों का सम्बन्ध अत्यन्त समस्यात्मक दिखायी देता है। इस समस्या से जूझते हुए बहुत से दार्शनिकों ने प्रमेय का परित्याग ही कर दिया, और प्रत्यक्षों को वस्तु-प्रापक : प्रमेय-साधक : मानने के बजाय आत्मपर्यन्त ही मान लिया। यों हमारी दार्शनिक परम्परा में इसके प्रथम प्रतिपादक बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु ही हुए, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो कुछ दूसरे बौद्ध दार्शनिक भी कुछ दूसरे ढंग से यही कहते मिलते हैं, क्योंकि वे जिस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को जिस स्वलक्षण वस्तु का प्रमापक कहते हैं वह हमारे साधारण प्रत्यक्षों और उनके विषयों से कहीं से भी मेल नहीं खाता। पश्चिम में डेकार्ट प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता को ईश्वर की सदाशयता पर छोड़ देते हैं, और बर्कले, ह्यूम और बाद के अनुभववादी प्रमेय को प्रमाणान्तर्गत ही स्थापित कर देते हैं। यही बात काँट भी करते हैं जब वे वस्तु को प्रमेयता की कोटि से ही बाहर कर देते हैं। किन्तु ये सब दार्शनिक अपनी ज्ञानमीमांसा में अटके इस ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और इसके गम्य विषय में ही रहते हैं, फिर चाहे उन्हें ये कितने ही क्षत-विक्षित रूप में हाथ लगें।

किन्तु प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता और इसके विषय की प्रमेयता की यह क्षति विचार से होती है जिसे ये दार्शनिक अपने आप में कल्पनामूलक मानते हैं। अपने आप में तो प्रत्यक्ष अपनी प्रामाणिकता के प्रति सहज रूप से पूर्णतः आश्वस्त ही होता है, इसी से मीमांसकों ने उसे स्वतःप्रमाण ही कह दिया है। किन्तु विचार उसे अपने आप में नितान्त अपर्याप्त, प्रमाण

होने के अयोग्य सिद्ध कर देता है। इसमें भ्रम की सम्भावना इसके स्वतःप्रमाण होने की अयोग्यता के लिए अकाट्य प्रमाण बनती है। पानी में खड़ी सीधी छड़ी का टेढ़ा दिखना इस अपर्याप्तता के लिए एक-दूसरे प्रकार का प्रमाण है। यों सब प्रत्यक्ष सत्य या भ्रान्त अतिक्रान्त वस्तुविषयक होने से ही होते हैं, और उनकी यह अतिक्रान्त वस्तुविषयकता जीव के जगद्भाव में ही बद्धमूल दिखायी देती है, किन्तु उनके और उनकी विषयभूत वस्तु के स्वरूप और सम्बन्ध का प्रश्न विचार का विषय होता है, प्रत्यक्ष का नहीं। इस प्रकार यह विचार ही दिखाता है कि प्रत्यक्ष विश्वसनीय प्रमाण होता है या नहीं, और होता है तो किस प्रकार का और किस सीमा तक, और नहीं होता है तो फिर यह प्रयोजन क्या सिद्ध करता है ?

किन्तु तब भी ये दार्शनिक विचार की वस्तु-प्रापकता या वस्तु-अप्रापकता का निर्णय, जो कि स्वयं विचार का विषय होता है, प्रत्यक्ष के वस्तु-सम्बन्ध के निदर्श के अनुसार ही करते हैं और तब स्वाभाविक होता है कि इसमें विचार अयोग्य ही ठहरता है। 'वस्तु की अनभिलाष्यता' की और 'गूँगे के गुड़' की बात तथा विचार के विकल्पात्मक स्वरूप की बात इसकी द्योतक है।

किन्तु प्रत्यक्ष और वस्तु, और इनके सम्बन्ध का स्वरूप-निर्णय, विचार का विषय होना इस बात का द्योतक होना चाहिए कि विचार भी एक प्रमाण होता है और स्वतन्त्र तथा प्रत्यक्ष से अधिक विश्वसनीय प्रमाण होता है। वसुबन्धु जो विज्ञप्तियों में गम्य अर्थ की असत्ता दिखाते हैं, अथवा कहेँ जो वे विज्ञप्ति को सत् और उसके गम्य अर्थ को असत् दिखाते हैं, वह वे तर्क से ही दिखाते हैं, जो विचार का एक स्वभावगत अंग है। किन्तु विडम्बना यह है कि प्रायः सभी दार्शनिक विचार को विकल्पात्मक और विकल्प को मनोमूलक कल्पना की मानते हैं। बौद्धों का भाषाविषयक अपोहवाद का सिद्धान्त इसी मान्यता पर प्रतिष्ठित है। और भी बहुत से दार्शनिक या चिन्तक हैं जो विचार को प्रमाण नहीं मानते, एक प्रकार से देखा जाय तो पश्चिम में काँट और पॉज़िटिविस्ट भी नहीं मानते। इसका कारण है—विचार के विषय बाहर देश में नहीं दिखते, जबकि हमारा सहजबोध कहता है कि सत् को मनोबाह्य लोक : देश-काल के जगत् : में अवस्थित होना चाहिए। इसी से जिन दार्शनिकों को ऐन्द्रिक प्रत्यक्षगत अर्थ भी चित्त-बाह्य देश में अवस्थित नहीं मिलते, जैसे वसुबन्धु और बर्कले को, वे उन्हें भी असत् कहते हैं—

वित्तिमात्रमेवेदमसदर्थवभासनम्

अब, विचार-विषय तो स्पष्टतः ही चित्तगत : अबाह्य : दिखते हैं, तब उनका असत् होना तो सिद्ध ही है। काँट तर्क देते हैं कि जेब का पैसा ही कुछ खरीदने के काम आता है, विचार का पैसा : पैसा-प्रत्ययः नहीं। दूसरी ओर नैयायिक प्रत्यय : गोत्व, घटत्व : को भी, जाति के रूप में गो-गत और इस प्रकार प्रत्यक्ष वस्तुगत मान लेते हैं। वेदान्तियों के केयूर-कुण्डल असत् की सत्-प्रतीति के बड़े प्रामाणिक उदाहरण हैं, उनके लिए केवल सोना, मिट्टी आदि ही सत् हैं, क्योंकि केयूर, कुण्डल कल्पित रूप हैं जो स्वर्ण पर आरोपित हैं।

किन्तु कठिनाई यह है कि बाह्य-आन्तर के ये भेद और इन भेदों के आपादन ये सब विचार-वितर्क के ही विषय हैं, विचार के बिना प्रातीतिक बाह्य की वास्तव अबाह्यता और अबाह्य की असत्ता विदित नहीं होती। किन्तु ऊपर हमने देखा कि अधिकांश दार्शनिक विचार को इस आधार पर ही अप्रामाणिक मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही वस्तु-प्रापक होता है, क्योंकि वस्तु बाह्य देश में ही हो सकती है और उसे हम ऐंद्रिय प्रत्यक्ष से ही जान सकते हैं, किन्तु विचार-विषय बाह्य देश में नहीं होता इस कारण उसके सत् होने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता।

किन्तु विचार को, ऊहा के अर्थ में तर्क जिसका अनिवार्य अंग है, याथार्थ्य के अवगमन के दूसरे सन्दर्भों में भी बहुत से लोग अप्रामाणिक मानते हैं, विशेषतः अध्यात्म-परम्पराएँ। ये लोग भी प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, भले ही यह प्रत्यक्ष देशगत वस्तु विषयक नहीं होकर अलौकिक देशगत तत्त्वों विषयक होता है। किन्तु कोई परतत्त्व विषयक अनुभव प्रामाणिक है या नहीं, यह क्या स्वयं अनुभव-प्रमाण होता है? यह एक अत्यन्त दुरूह प्रश्न है। अब, कोई अनुभव तब तक स्वतःप्रमाण कैसे हो सकता है जब तक वह आत्मपर्यन्त नहीं हो, वह अनन्यविषयक : निर्विषय : नहीं हो? दिङ्नाग ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वलक्षण वस्तुविषयक कहते हुए भी उसे स्वतःप्रमाण कहा है, क्योंकि वे उनमें एक-एक का और अव्यवहित सम्बन्ध मानते हैं। किन्तु यह कैसे पता चले कि किसी प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक होने पर भी उसने किसी वस्तु का प्रत्यक्ष किया ही है, कि उसके और वस्तु के बीच का अन्तराल अपारदर्शी नहीं है, कि जिस प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष-कर्ता निर्विकल्पक समझ रहा है वह वास्तव में निर्विकल्प है ही नहीं? इस पर कहा जा सकता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और स्वलक्षण वस्तु के सम्बन्ध में ये प्रश्न उठाये ही नहीं जा सकते, क्योंकि ये परिभाषया इन प्रश्नों के लिए अतीत हैं। किन्तु ऐसी अवस्था में इनका कोई अर्थ ही नहीं रहता, क्योंकि परिभाषा पूर्णतः वैचारिक ही होती है। यहाँ ऐन्द्रिक और आध्यात्मिक प्रत्यक्षों पर थोड़ा और विचार करना स्थाने होगा।

ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष सामान्यतः परवस्तुविषयक ही होते हैं, किन्तु वे स्वगत धर्म-विषयक भी हो सकते हैं, जैसे चौंधियाई आँखों से दृष्ट वर्ण, या आँख दबाकर देखे गए दो चाँद। इन प्रत्यक्षों को एक प्रकार से हम स्वतःप्रमाण भी कह सकते हैं, यद्यपि ये भी बाह्यविषयक ही होते हैं—वर्ण और द्विचन्द्र बाह्य देश में ही दिखायी देते हैं। किन्तु तब भी ये बाह्य वस्तुविषयक नहीं होते। दूसरी ओर इच्छा, प्रेम, द्वेष, सुख-दुःखादि अनुभव और पर-तत्त्वों विषयक अनुभव बाह्य देशस्थ वस्तु-विषयक नहीं होने पर भी सत्ता की दृष्टि से इनके समकक्ष रखे जा सकते हैं। किन्तु इनमें एक आधारभूत अन्तर होता है—अस्तित्वतः जबकि इन्हें स्वतःप्रमाण कहा जा सकता है, स्वरूपतः इन्हें स्वतःप्रमाण नहीं कहा जा सकता। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि 'सत्तया तो रज्जु-सर्प और अवास्तव वर्ण-प्रत्यक्ष को भी स्वतःप्रमाण ही कहा जायेगा।' किन्तु इनमें भेद है—प्रथम दो प्रत्यक्षों में भी भेद है : रज्जु-सर्प प्रत्यक्ष मूलतः परवस्तु विषयक ही है, किन्तु चौंधियाई आँखों से देखा गया वर्ण मूलतः

अपरविषयक : अवस्तु-विषयक : है और स्वरूप में प्रत्यक्षपर्यन्त ही है। किन्तु सुख-दुःख, प्रेम-द्वेष जबकि संवेदपर्यन्त ही होते हैं, स्वरूप में ये संवेदपर्यन्त नहीं होते। यही बात पर-तत्त्व विषयक अनुभवों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, सिवाय इसके कि उनमें अनुभव और वस्तु अभिन्न होने पर भी वस्तु का स्वरूप अपरिमेय और अनवगाह्य होता है। अब सुख-दुःख, और उससे भी अधिक प्रेम-द्वेष परक अनुभवों के स्वरूप विषयक भ्रान्ति की बात तो हम सब जानते हैं किन्तु आध्यात्मिक अनुभव या परतत्त्वों विषयक अनुभव या बोध के प्रामाण्य के परतः होने की बात कुछ अटपटी लग सकती है। किन्तु वास्तव में इस बोध के भ्रान्त होने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। सामान्य जन का इस प्रकार का बोध प्रायः ही सन्देह-विषय होता है, किन्तु किस प्रकार रामकृष्ण परमहंस जैसा परमोच्च साधक भी अपने ऐसे बोध की प्रामाणिकता में सन्देहशील होता था, इसके लिए उनकी जीवनी से निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—“साधना-काल के प्रथम भाग में यद्यपि उन्हें भिन्न-भिन्न दर्शन प्राप्त हुए थे, तथापि जब तक उन्होंने शास्त्रों में वर्णित साधकों के शास्त्रीय साधना-पद्धति द्वारा उत्पन्न अनुभवों के साथ अपने स्वतः के अनुभवों का मिलान करके नहीं देख लिया, तथा जब तक अपने अनुभव की सच्चाई और झुठाई का निश्चय नहीं कर लिया और इस प्रकार के अनुभवों की चरम सीमा निर्धारित नहीं हो गयी, तब तक उनका मन सदा शंका-युक्त ही बना रहता था।” (द्रष्टव्य पं. द्वारकानाथ तिवारी—श्री रामकृष्ण लीलामृत) इसमें आध्यात्मिक अनुभव के परतःप्रामाण्य की बात स्पष्ट देखी जा सकती है। इसमें अनुभव की शास्त्र-प्रमाणता और अन्यो से अपने अनुभव की तुलना की बात जाने भी दें, यद्यपि वह असंगत नहीं है, तो भी ‘अपने अनुभव की सच्चाई की जाँच’ अनिवार्य होती है। अब, इस जाँच की विधि और रूप को देखना महत्त्वपूर्ण है, जिसे हमने अपने ‘सत्य’² शीर्षक लेख में देखने का प्रयत्न किया है। इस अनुभव की सच्चाई की जाँच अन्तःसाक्ष्य से ही होती है, जो अनुभव को आलोच्य अर्थ के रूप में पर : आलोचन से बाहर स्थापनीय : सिद्ध करता है और उसे सत्यासत्य की कसौटी का, भ्रान्त होने की सम्भावना का, विषय बनाता है। इस दृष्टि से इस अर्थ में और इन्द्रियार्थ में अनुरूपता स्पष्ट है, भेद केवल इन दो प्रकार के अर्थों के करणों में रह जाता है। ‘अन्यो के अनुभव से तुलना’ की बात इस अनुभव को उसी प्रकार ‘सार्वजनिक’ भी बना देती है जिस प्रकार इन्द्रियार्थ ‘सार्वजनिक’ होते हैं।

यहाँ कहा जा सकता है कि सत्ता की दृष्टि से ये अनुभव अन्तःकरणगत अन्य अनुभवों के समान ही होते हैं और अन्तःकरण के अनुभवों की सत्ता में कोई सन्देह नहीं करता। ये सब अनुभव इन्द्रियविषयक बाह्यार्थों से इस रूप में मूलतः भिन्न होते हैं कि जबकि इन्द्रियार्थों का सत्ता-सम्बन्ध परवस्तुओं से होता है, इन अनुभवों का वैसा नहीं होता। जिन इन्द्रियार्थों का सत्ता-सम्बन्ध इस प्रकार पर-वस्तुओं से नहीं होता, जैसे चौंधियायी आँख से देखे गए वर्ण या द्विचन्द्र का, उन अर्थों को असद्विषयक ही माना जाता है, उसी प्रकार स्वप्न में दृष्ट अर्थों को असद्विषयक माना जाता है।

किन्तु द्रष्टव्य है कि ये बाह्य वस्तुएँ जिस प्रकार और जिस अर्थ में हमारे लिए बाह्य होती हैं उस प्रकार और उस अर्थ में अन्य जीवों के लिए नहीं होतीं, स्वयं मनुष्यों में भी इनको लेकर गहरा स्तर-भेद होता है। आधुनिक वैज्ञानिक के लिए जबकि सब सत्ता भौतिक है, जन सामान्य के लिए यह भौतिक, जैव, मानसिक और आध्यात्मिक आदि विभिन्न प्रकार की है, और भौतिकवैज्ञानिक का 'भौतिक' साधारण भौतिक से अत्यन्त भिन्न प्रकार का, अत्यधिक उद्गृहीत प्रकार का कुछ, होता है। इस प्रकार सत्-विषयक इस भेद का मूल अचिद्वस्तुपरक नहीं होकर चेतनागत अर्थों में ही ठहरता है। नैयायिकों ने जाति-सहित व्यक्ति को प्रत्यक्ष का विषय इसी तर्क से माना था कि हम गाय, घोड़ा, घड़ा, पानी, मिट्टी आदि को उनकी 'जाति' के सहित ही देखते हैं, अन्यथा मानना होगा कि गाय और घोड़े को एकरूप देख कर पीछे अनुमान से या आरोप से उनमें जाति देखते हैं। इस दृष्टि से 'गोत्व' और 'गाय-जाति' में भेद किया जा सकता है, जैसा कि 'मनुष्यत्व' और 'मनुष्य-जाति' में भेद से देखा जा सकता है। जो भी हो, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष विषय के रूप में बाह्यार्थ एक कोई सहज निर्धार्य वस्तु नहीं होता। पानी में खड़ी दिखने में टेढ़ी और छूने में सीधी छड़ी प्रत्यक्ष में दो किन्तु सत्ता में एक है, चौंधियाई आँखों से देखे गये नीलवर्ण-कण प्रत्यक्षगम्य हैं, किन्तु असत् हैं आदि उदाहरण सद्वस्तु को प्रत्यक्ष से पर, प्रत्यक्ष के लिए अगम्य सिद्ध कर देते हैं। इस सत्ता को जीव के जगद्भाव के सहज बोध का विषय कहा जा सकता है, जो भाव चेतना के ऐन्द्रिक वृत्ति में उन्मीलन का हेतु होता है, जो भाव इन्द्रियोपकरण और देह-धारण के रूप में व्यक्त होता है और जो प्रत्यक्ष के विषय से जगद्गतवस्तु के रूप में सम्पर्क स्थापित करता है। सत्ता इस विषय में पूर्वगृहीत रहती है। इस प्रकार वसुबन्धु जिन अर्थावभासों को असत् कहते हैं उनमें सत्ता का तात्पर्य दार्शनिकों की सत्ताविषयक इस भ्रान्त धारणा के अनुरूप है कि उन अर्थों में जो अतिक्रामी वस्तुता लक्षित रहती है उस वस्तु का अधिष्ठान उन अर्थों से इतर किसी भौतिक अस्तित्व में होना चाहिए, अन्यथा ये अर्थ असत् कहे जाएंगे। वास्तव में वे इस इतर अस्तित्व को ही 'अर्थ' कहते हैं और इनके प्रत्यक्षों को अवभास, जिसके मूल में दर्पण-वस्तु-बिम्ब का निदर्श है। किन्तु यह निदर्श भ्रामक है, क्योंकि यदि यह निदर्श सही हो तो वस्तु के बिना बिम्ब होना ही नहीं चाहिए। दूसरे, चेतना सुख-दुःख, श्रेयस्-अश्रेयस्, कला-शिल्प आदि परक नामों-रूपों का साक्षात्कार भी करती है, जिनको इस निदर्श पर नहीं समझा जा सकता, किन्तु जिनमें 'अवभासन' और 'अर्थ' का द्वैत रहता है, जो अवभास की अपने अर्थ से सम्यक्ता-असम्यक्ता या भ्रान्तता-अभ्रान्तता का हेतु होता है। इन्हें ये दार्शनिक मनोकल्प : विकल्प : और इस प्रकार असत् मान कर ही चलते हैं। किन्तु यह एक आधारभूत रूप से भ्रान्त दृष्टि है। ये तथाकथित मनोकल्प अर्थ ऐन्द्रिक प्रत्यक्षगम्य : इन्द्रिय-कल्प : वस्तुओं के समान ही 'स्वतन्त्र' और सत्प्रतिष्ठ होते हैं, केवल उनके 'बाह्य देश' में अवस्थित नहीं होने और चेतना के जगद्भाव में आद्य उन्मीलन से भिन्न प्रकारक उन्मीलन के कार्य होने से वे 'काल्पनिक' के रूप में देखे जाते हैं। किन्तु मिट्टी, पत्थर और लोहे को चूल्हा, चक्री तथा तलवार और तोप से अधिक सत् या प्रथम को सत् और दूसरों को मनोकल्प कहने का कोई

औचित्य नहीं है, और तब इसी प्रकार इन अर्थों के विवेचक अर्थों को मनोकल्प और इस प्रकार असत् देखने में कोई औचित्य नहीं है।

इन्द्रियगम्य अर्थों को चेतना के अनात्मचेतन स्तरीय आद्य उन्मीलन कहा जा सकता है। इस उन्मीलन का मूल चेतना की जगद्वासना में है। चेतना के आत्मचेतन होने पर चेतना सर्वथा नये प्रकार के अर्थों के साथ उन्मीलित होती है। इस उन्मीलन के साथ इन्द्रियार्थों का रूप भी बदल जाता है, क्योंकि चेतना के आत्मचेतन होने का अर्थ है चेतना का जगद्वासना से अशेष तादात्म्य से मुक्त होकर उसकी द्रष्टृता में अवस्थित होना। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि मनुष्य में तो अधिकांश में जगद्भाव पशु से भी अधिक प्रखरता से देखा जाता है। उसी को आसुरीभाव कहा जाता है। यह सही है, किन्तु इस अधिकता का मूल भी उसकी इस मुक्ति में ही है। इसका हेतु उसका आत्म-वरण, अथवा कहें आत्म-वरण की योग्यता का स्थगन, कहा जा सकता है, जिसके लिए वही उत्तरदायी होता है।

आत्मचेतन चेतना के विषय प्रत्यय होते हैं जिनकी ग्राहक प्रेक्षात्मक बुद्धि : विचार : होती है। इसके लिए इन्द्रिय-विषय भी प्रत्ययमूलक हो जाते हैं : गाय इसके लिए गो-जातीय व्यक्ति ही नहीं होती, वह गोत्व की अभिव्यक्ति की माध्यम भी होती है : वह उपयोगी पशु, गोमाता, देवतत्त्व से अनुप्रविष्ट जाति और शरीर विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान की विषय आदि-आदि की अपरिमेय सम्भावनाओं से अन्तर्गर्भ अर्थ की प्रतीक हो जाती है। इसी प्रकार पत्थर अब चक्षु और स्पर्श-ग्राह्य विषय, पथ का बाधक आदि कुछ, अथवा अधिक से अधिक 'प्रस्तर-जातीय कुछ' ही नहीं रहता, वह एक भौतिक वस्तु : भौतिकता की अभिव्यक्ति का माध्यम और इस रूप में उपादेय : हो जाता है। ये सब अर्थ समानरूप से सत्तापूर्वक ही होते हैं, जब तक दार्शनिक परिभाषा द्वारा इनमें से किसी को सत्ता का एकाधिकार नहीं दे देता। वैदिक ऋषि मनुष्य की इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को और सूर्य, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भौतिक वस्तुओं को एक ही तत्त्व के दैहिक, दैविक, आध्यात्मिक और भौतिक आयाम देखते हैं और इस प्रकार आँख उनके लिए चक्षु-गोलक और सूर्य प्रकाश-पिण्ड मात्र नहीं रहता, ये दोनों एक ही दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति के दो रूप हो जाते हैं। उनके लिए जगत् का और जगद्गत वस्तुओं का यही स्वरूप है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि 'प्रत्यय' 'सामान्य' का पर्यायवाची शब्द नहीं है, न यह 'जाति' का ही पर्यायवाची है, न 'जाति' 'सामान्य' का पर्यायवाची है। 'सामान्य' व्यक्तियों में दृष्ट अनुरूपता के उद्गृहीत रूप का वाचक होता है। इस प्रकार वार्द्धक्य, पंक, दण्ड, प्रहार ये सब सामान्यवाचक पद हैं, इसी अर्थ में 'गो' और 'अश्व' आदि भी सामान्य वाचक कहे जाते हैं। किन्तु 'गो' और 'अश्व' जाति वाचक भी हैं, जबकि 'दण्ड' आदि नहीं हैं। 'गो' इस कारण जाति वाचक है क्योंकि यह एक जैव याथार्थ्य का वाचक पद है : गाय से गाय और अश्व से अश्व ही उत्पन्न हो सकता है। यह वास्तव नियम है, जो गाय-व्यक्तियों और अश्व-व्यक्तियों में व्यक्त होता है। इससे भिन्न 'घटत्व', 'मनुष्यत्व' और 'रामत्व' तथा 'बुद्धत्व' आदि प्रत्यय हैं। 'प्रत्यय' को आत्मचेतन चेतना : आत्मद्रष्टृ चेतना : में उन्मीलित, अथवा कहें उसमें उसी प्रकार उन्मीलित और दृष्ट अर्थ कहा जा सकता है जिस

प्रकार इन्द्रियार्थों को। किन्तु ये अर्थ व्यक्तियों (व्यष्टियों) के माध्यम से व्यक्त होते हैं, व्यष्टि इनके आदर्श में अपने को ढालते हैं और ये अर्थ व्यक्तियों के माध्यम से अपने को निरूपित करते हैं। जाति में भी प्रत्यय के ये लक्षण देखे जा सकते हैं, किन्तु इस भेद के साथ कि यह 'जाति प्रत्यय' आत्मचेतन चेतना में दृष्ट अर्थ-रूप नहीं होता। किन्तु तब इसे ईश्वरीय चेतना में दृष्टार्थ : अधिक उपयुक्त शब्दों में कहें तो आल्य विज्ञान में दृष्ट अर्थ : कह सकते हैं, जो उसी प्रकार जैव माध्यम में व्यक्त होता है जिस प्रकार 'घटत्व' भौतिक माध्यम में और 'बुद्धत्व' या 'रामत्व' चैत माध्यम में व्यक्त होते हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि 'बुद्धत्व' और 'घटत्व' में एक आधारभूत अन्तर है—'घटत्व' जबकि अनेक घटों में व्यक्त होता है 'बुद्धत्व' केवल एक ही व्यक्ति में व्यक्त होता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह 'बुद्धत्व' प्रत्यय का स्वरूप नहीं है कि वह एक ही व्यक्ति में व्यक्त हो, बौद्धों ने जीवमात्र को बुद्धत्व-गर्भ : तथागत गर्भ : कहा है और यह सही है। बुद्धत्व स्वयं सिद्धार्थ द्वारा दृष्ट अर्थ का उसमें क्रियान्वयन है और यह उन सबमें क्रियान्वित हो सकता है जो उसे देख सकते और अपने को उसकी अनुरूपता में ढालना चाहते हैं। निश्चय ही व्यक्ति की देह, और उससे भी अधिक व्यक्तिचित्त, में एक अनन्यता भी होती है और उसके अनुसार व्यक्ति में प्रत्यय की अभिव्यक्ति में भी वैशिष्ट्य रहता है, किन्तु वह प्रत्यय की अभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य : अनन्यता : होती है, प्रत्यय की वैयक्तिकता नहीं होती। यों यह अनन्यता कम प्रखर रूप में घट आदि और गो आदि व्यष्टियों में भी रहती है, किन्तु वह विशिष्टता अपने आदर्श की अभिव्यक्ति में असम्यक् रहने के रूप में देखी जाती है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह वैयक्तिक अनन्यता किसमें प्रतिष्ठित होती है? स्वयं व्यक्ति चित्त में, आल्य-चित्त में या कि द्रष्टृ चेतना में? यहाँ हम इस प्रश्न में नहीं जाएँगे, यह अलग विचार की अपेक्षा करता है और पर्याप्त जटिल है। यहाँ हम सामान्यों और प्रत्ययों के स्वरूप पर ही संक्षेप में आगे विचार करेंगे।

कुछ दार्शनिक सामान्यों को व्यक्तियों में देखी गयी समानता को भ्रांतिवश दी गयी वस्तुता के वाचक शब्द : नाममात्र वाद : कहते हैं, अथवा अधिक ठीक शब्दों में कहें तो, उनके अनुसार इस प्रकार देखी गयी समानता शब्दारूढ़ होकर वस्तुता की भ्रांति की जनक बनती है। यह समानता व्याप्ति-ग्रहण की आधार भी बनती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि जबकि ऐसा भी होता है कि हम कुछ घटनाओं या वस्तुओं में समानता देखकर एक सामान्य का उद्ग्रहण करते हैं, इसके विपरीत ऐसा भी होता है कि एक ही घटना या वस्तु को देखते हुए हम उसमें व्याप्ति का प्रत्यक्ष करते हैं। गाय प्रहार-मुद्रा में उठाये हुए डण्डे को पहली बार ही देख कर उसका अर्थ समझ लेती है। धूम-अग्नि का सम्बन्ध एक बार देखकर ही हम उस सम्बन्ध में व्यापकता स्थापित कर लेते हैं। इसी प्रकार, वार्द्धक्य वृद्धों में देखी गयी आकृतिगत समानता का वाचक पद ही नहीं है, यह शरीर की अवस्था का वाचक पद भी है, बाह्य आकृति जिसकी एक लक्षण होती है। निश्चय ही व्यक्तियों को हम शरीर की अवस्था की समानता के आधार पर ही 'वृद्ध' कहते हैं, जबकि उनमें अवस्था की समानता पूर्ण नहीं होती, उनमें समानता एक सीमा तक रहती है जो पुनः अनिश्चित होती है। इसे

विट्रिगस्टाइन ने पारिवारिक समानता कहा है, जिसका अर्थ है सामान्यों की वस्तुता का निषेध करना। किन्तु सामान्यों के सम्बन्ध में यह दृष्टि सम्यक् नहीं है। बहुत बार ये शब्द के आश्रय से विशेषों में दृष्टिगत समानता के उद्ग्रहण मात्र नहीं रह कर प्रत्यय का रूप भी ले लेते हैं। उदाहरणतः 'माधुर्य' शब्द गन्ने, केले और आम आदि के चखने में संवेदित रसों में लक्षित 'पारिवारिक समानता' का उद्ग्रहणात्मक वाचक मात्र नहीं है, यह पद स्वर, वचन और स्वभाव आदि के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है, रसात्मक उद्ग्रहण को आलंबन बनाकर यह गुड़, चीनी आदि के रूप में और अन्य अनेक प्रकार के मधुर रसों के रूप में स्वतन्त्रतः उत्पाद्य वस्तुओं का हेतु भी हो जाता है। ऐसा यह शब्दावलम्बित रस-संवेदन में प्रत्यय के अनुप्रवेश से हो पाता है। यह सब संवेदनों में देखी गयी तथाकथित पारिवारिक समानता के शब्दाश्रित उद्ग्रहणों के लिए सही है। इनके आधार पर बड़े-बड़े उद्योग चलते हैं।

यहाँ 'शब्दातीत अनुभव', 'अनभिलाष्य तत्त्व', 'गूँगे का गुड़' आदि पर भी संक्षिप्त टिप्पणी स्थाने होगी। कोई भी अनुभव अपने शुद्ध रूप में नितान्त विशिष्ट होता है, चाहे वह नितान्त निर्विकल्पक नहीं होता। जैसे कोई भी रसानुभव। परिणामतः वह शब्द का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द स्वरूपतः सामान्यवाचक होता है। किन्तु यह 'शुद्ध अनुभव' नितान्त अर्थ-दरिद्र ही होता है, 'बोध के गूँगेपन' का हेतु, जैसाकि पशुओं में हम देखते हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि नितान्त अविकसित जीव का भी कोई 'अनुभव' निर्विकल्पक नहीं होता, वह उसके जीवनोपयोगी सहजबोध (इन्स्टिंकट) का अविभाज्य अंग होता है। मनुष्य निर्विकल्पकता को साधने का प्रयत्न कर सकता है, जैसाकि वसुबन्धु इसे ग्राह्य-ग्राहकता का उत्क्रमण करने वाले बुद्ध में देखते हैं। किन्तु सहजरूप में प्रदत्त अनुभव : संवेद : शब्द का अविषय होने पर ठीक से स्मृति का विषय भी नहीं हो पाता, उन सब अर्थों से तो वह रहित होता ही है जो वह विकल्प-विषय होकर प्राप्त करता है। इसके विपरीत प्रत्यय-मूलक होकर अनुभव अपार व्यापकता और अतल गहनता प्राप्त कर पाता है, जैसाकि काव्य और अन्य कलाओं में एक ओर और विज्ञान में दूसरी ओर देखा जा सकता है। काव्य और अन्य कलाओं में प्रत्यय का यह विषयिता-धर्मी विजृम्भन होता है। विषयता धर्मी विचार के आयाम में यह किस प्रकार यंत्र-विद्या, उद्योग और शिल्प आदि की तथा विज्ञान, गणित, धर्म और दर्शन आदि की अपार अर्थ-राशियों में विकसित हो सकता है, इस ओर हम ऊपर संकेत कर ही आये हैं।

यहाँ विज्ञान को धर्म, दर्शन आदि के तुल्य कहने पर आपत्ति हो सकती है। किन्तु जो असमानता धर्म या दर्शन से विज्ञान की है वही धर्म और दर्शन आदि में भी परस्पर है। इस असमानता का मूल ग्राहक चेतना की वृत्तियों के स्वरूप में रहता है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रत्यय ऐन्द्रियवृत्ति-सम्बद्ध होता है और नैतिक तथा धार्मिक प्रत्यय आत्म-ध्यायी वृत्ति-सम्बद्ध और दार्शनिक प्रत्यय प्रत्यङ्मुख वृत्ति-सम्बद्ध। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रत्यय का चेतना के इन्द्रियात्मक उन्मीलन के आधार में उपचरित होना अनिवार्य होता है, जबकि धर्म, दर्शन आदि गत प्रत्यय इन्द्रियवृत्तिक नहीं होते। किन्तु प्रत्यय-धर्मिता में विज्ञान का

धर्म या दर्शन से कोई भेद नहीं है। विज्ञान भौतिक तत्त्व के स्वरूप का अनुसन्धान करता है, जो तत्त्व इन्द्रियार्थों में पूर्वगृहीत पर-वस्तु का प्रत्यय-धर्मी रूप है। इस प्रत्यय-धर्मिता के कारण ही विज्ञान का अनुसन्धेय सत् दर्शन और धर्म के अनुसन्धेय सत् के समान ही अपरिमेय और अनवगाह्य होता है।

प्रत्यय आत्मचेतन चेतना में उन्मीलित अर्थ होते हैं। जैसाकि हम पीछे देख आये हैं, ये अर्थ भी उसी प्रकार सहज रूप से सत्प्रतिष्ठ होते हैं जिस प्रकार इन्द्रियार्थ होते हैं, किन्तु चेतना का आद्य उन्मेष इन्द्रियात्मक होने से और इसका मूल अनादि जगद्वासना में होने से सहज रूप से सत्ता का आदर्श इन्द्रियार्थ ही बनते हैं। जिस प्रकार वेदान्ती और सांख्य-दार्शनिकों जैसे शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर विचार करने वाले दार्शनिक भी प्रमाण और भ्रान्ति आदि विषयक विचार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तन्मूलक अनुमान के धरातल पर ही करते हैं और ज्ञान को वस्तुतंत्र कहते हैं, उससे यह देखा जा सकता है। काँट ने इसी आधार पर ईश्वर को अयुक्तिसंगत आस्था, या कहें अन्धविश्वास का विषय कहा। इसी पूर्वग्रह के कारण ये दार्शनिक विकल्प को असन्मूलक और प्रत्ययों को सामान्यों से अभिन्न उद्ग्रहणस्वरूप ही मानते हैं। उपादान को सत् और नामरूप को असत्-कल्पना कहने के पीछे भी यही पूर्वग्रह है। किन्तु इन्द्रियार्थ चेतना के उसी प्रकार उन्मेष हैं जिस प्रकार प्रत्यय या बुद्ध्यर्थ हैं, किन्तु ये दोनों अपने स्वरूप में नितान्त भिन्न होते हैं और परिणामतः अपने सत्ता-रूपों में भी।

यहाँ ध्यातव्य है कि प्रत्यय एक ही प्रकार के नहीं होते। कुछ प्रत्यय अपनी अभिव्यक्ति के लिए इन्द्रियार्थों को आश्रित करते हैं, किन्तु अन्य बहुत से इन्द्रियार्थों को आश्रित नहीं करते। उदाहरणतः मनुष्य-रचित सम्पूर्ण वस्तु-लोक इन्द्रियार्थों को आश्रित कर व्यक्त होने वाले प्रत्ययार्थों का लोक ही है, जगत् को और जगद्गत पदार्थों को भी आलय विज्ञान में या विधाता की चेतना में उन्मीलित अर्थों की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। ये सब इन्द्रियार्थों को आश्रित कर व्यक्त होने वाले प्रत्यय हैं। इसी प्रकार दूसरे प्रत्यय हैं जो बुद्धि को या भावना को आश्रित कर व्यक्त होते हैं। कार्य-योजनाएँ, सैद्धान्तिक विचार और सदसद्-विवेक विचाराश्रित प्रत्ययों या अर्थों के और काव्य तथा कलाओं में व्यक्त भाव और विचार भावाश्रित प्रत्ययों के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

जैसाकि हमने ऊपर देखा, प्रत्यय आत्मचेतन चेतना में उन्मीलित अर्थ होते हैं। चेतना का आत्मचेतन होना उसका प्रत्यङ्मुख होना है। चेतना के इतिहास में यह अद्भुत क्रान्तिकारी आरोहण घटित होता है। इस सोपान पर आरोहण के साथ सत्-असत् का रूप ही आधारभूत रूप से नहीं बदल जाता बल्कि सत्-असत् से भिन्न और उतना ही मूलगामी एक दूसरा आयाम भी आविर्भूत हो जाता है जिसे सदसद् : श्रेयसश्रेयस् तथा उचित-अनुचित : विवेक का आयाम कह सकते हैं। आत्मचेतन चेतना जगद्गत वस्तुओं को, जगत् को और अन्य सब अर्थों को सत्-असत् के आयाम में ही नहीं देखती, उन्हें सदसद् के आयाम में भी देखती है। बहुत से विचारक इस दूसरे आयाम को उस प्रकार साधार नहीं देखते जिस प्रकार प्रथम आयाम को। उदाहरणतः 'अहिंसा स्वयं में श्रेयस् है' यह बोध उतना ही सहज और स्वप्रतिष्ठ है जितना सत्ता-बोध, ऐसा आज अधिकांश दार्शनिक नहीं

मानते, इसे वे किसी उपयोगिता-दृष्टि या उद्देगात्मकता में अपचेय देखते हैं। किन्तु श्रेयस्-अश्रेयस् आत्म चेतन चेतना द्वारा दृष्ट आत्मविषयक अर्थों में उसी प्रकार सहजतः अन्तर्हित होते हैं जिस प्रकार विषयवृत्तिक चेतना द्वारा दृष्ट सत्-असत्, यह हम अन्यत्र विस्तार से देख चुके हैं।³

चेतना के आत्मचेतन होने का अर्थ है उसका ऐन्द्रिक स्तरीय उन्मीलन में बाह्योन्मुख सहज प्राकृतिक प्रवर्तन के विपरीत प्रत्यङ्मुख निवर्तित होना। प्रत्यङ्मुख निवर्तित चेतना इस निवर्तन के प्रथम चरण में अपना विषयिरूप में विषय से पृथक् प्रत्यक्ष करती है और विषय का पर-रूप में पृथक् प्रत्यक्ष करती है। यों यह विषयी भी इस चेतना के लिए विषय होकर ही ग्राह्य होता है, किन्तु इस विषयि-विषय से पृथक् द्रष्टृ-विषयी के लिए, जो ग्राह्य नहीं होकर आत्मविदित रहता है। इस आत्मचेतन चेतना के प्रत्यक्षों का अवच्छेदक धर्म प्रत्यय-मूलकता है, जबकि अनात्मचेतन चेतना के प्रत्यक्षों का अवच्छेदक धर्म अशेष जगद्भावमूलकता : ऐन्द्रिय विषयेषणा : होता है। ऐसा नहीं है कि प्रत्यङ्मुख चेतना अपने इस नये विकास के प्रथम चरण में ही अपने आद्य उन्मीलन की प्रेरणा : विषयेषणा : से मुक्त हो जाती है, किन्तु यह एषणा इस चरण में व्यवहित हो जाती है। यह व्यवधान इस चेतना के लिए क्रमशः अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण, जगद्धर्मता से अधिकाधिक विद्युत्कता का हेतु भी हो सकता है और प्रत्यय-धर्मता के माध्यम से जगदेषणा : ऐन्द्रिक विषयेषणा : का नये रूप में और कहीं अधिक प्रखरता के साथ अन्वेषी भी हो सकता है। किन्तु वह अब जगद्भाव के अव्यवहित तादात्म्य में अवस्थित नहीं हो सकता। ऐन्द्रिक संस्कृतिमूलक विज्ञान और यान्त्रिकता का विकास और सब देशों और कालों में मनुष्य में प्रकट आसुरीभाव इसके उदाहरण हैं। मनुष्य में लक्षित यह आसुरी वृत्ति उसमें श्रेयस्-बोध के विपर्यास की द्योतक कही जा सकती है। द्रष्टव्य है कि यह वृत्ति सदसद्-बोध से नितान्त शून्य पाशवता की नहीं होती, बल्कि प्रत्यय-व्यवहित जगद्-भाव के समान प्रत्यय-व्यवहित विपर्यस्त आत्म-बोधमूलकता की होती है।

हमारे उपर्युक्त प्रतिपादन पर यह आपत्ति हो सकती है कि यह विज्ञप्तिमात्रता का छद्म स्वीकार ही है, क्योंकि वसुबन्धु ने अर्थावभासन को मिथ्या नहीं कहा है, उसमें सद्वृष्टि को मिथ्या कहा है, और सद्वृष्टि उनके अनुसार, अवभासन से : विज्ञप्ति से : बाहर स्वतन्त्र वस्तुओं के स्वीकार की दृष्टि है, जिसे हम भी मिथ्या कह रहे हैं। किन्तु यह आपत्ति ठीक नहीं होगी, क्योंकि एक तो वे ग्राह्य-ग्राहक भाव में ही मिथ्यात्व देख रहे हैं जिसे हम चेतना के अर्थोन्मीलन के रूप में देख रहे हैं और दूसरे, वे सद्वृष्टि को जिस रूप में समझ रहे हैं वह युक्त नहीं है। चेतना का अर्थोन्मीलन उसका सत्ता में ही उन्मीलन होता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि अर्थोन्मीलन केवल ऐन्द्रिक ही नहीं होता बल्कि बौद्धिक, प्रातिभ और प्रज्ञात्मक भी होता है और उन्मीलन के ये उत्तरवर्ती रूप अर्थों की सद्रूपता में भी उत्तरवर्ती होते हैं। किन्तु दार्शनिक सत्ता का विचार केवल ऐन्द्रिक विषयों को लेकर ही करते हैं और इन्हें चेतना के एक अर्थोन्मीलन के रूप में नहीं देख कर दर्पण रूप में देखते हैं, और तब इस रूपक में कठिनाइयाँ देखते हैं। वसुबन्धु इसके आदर्श उदाहरण हैं, किन्तु वेदांत का

अध्यास-विचार भी इसी का एक उदाहरण है। अपनी इस अयुक्त दृष्टि के कारण वसुबन्धु, और वास्तव में अधिकांश दार्शनिक, जिनमें बौद्ध विशेष हैं, बुद्धि-ग्राह्य, या कहें बुद्ध्युन्मीलित, अर्थों को मात्र ऐसी कल्पनाएँ ही मान लेते हैं जो विज्ञप्त्यर्थों में मिथ्या-दृष्टि की हेतु होती हैं, जबकि वास्तव में प्रत्ययार्थ उसी प्रकार सत्ता के दावेदार होते हैं जिस प्रकार इन्द्रियार्थ, क्योंकि प्रत्यय-रूप में अवभासित अर्थ उसी प्रकार अतिक्रामी, अपने सब ग्रहणों से परे और उनके लिए केवल अल्पांश में ही ग्राह्य, होते हैं जिस प्रकार इन्द्रियार्थ होते हैं। प्लेटो ने इन्हें जो दिवाकाश में विद्यमान वस्तुएँ कहा है और इन्द्रियार्थों को उनकी असम्यक् छाया, वह इनकी इसी वस्तुता से प्रभावित होकर कहा है। किन्तु इस प्रतिपादन में जहाँ यह प्रज्ञा है कि प्रत्यय उसी प्रकार की किन्तु अधिक ठोस सत्ताएँ हैं जिस प्रकार की जनसाधारण की धारणा में इन्द्रियार्थ हैं, वहीं यह भ्रान्त दृष्टि भी है कि सत्ता किसी देश में भौतिक प्रकार की विद्यमानता या, उसी प्रकार की किसी अतिभौतिक देश में विद्यमानता ही होती है। प्लेटो में दूसरी भ्रान्ति प्रत्ययों को सामान्यों से अभिन्न देखने में है। निश्चय ही इन्द्रियगम्य, बुद्धिगम्य और ऊर्ध्वतर प्रज्ञागम्य अर्थों में एक समानता है, किन्तु यह समानता उनके समानरूप से चिदुन्मीलन होने में है, और चेतना में सब स्तरों पर उन्मीलित ये अर्थ समान रूप से सत्ता को पूर्वगृहीत करते हैं। यह सत्ता इन अर्थों के ग्रहणों से इनके ग्राह्य रूप की अतिक्रामिता में निहित रहती है। यहाँ उदाहरण रूप में औपनिषद वचन 'तत्त्वमसि' को देखा जा सकता है। निश्चय ही इसमें श्वेतकेतु की ब्रह्म से अभिन्नता ही कही गई है, किन्तु वह उसी प्रकार भिन्न और अभिन्न है जिस प्रकार दृष्ट घट से तद्विषयक विज्ञप्ति और किसी विचार-विषय से प्रत्यय। पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक इन्द्रिय-विषय घट को तद्विषयक विज्ञप्तियों से संरचना (कन्स्ट्रक्शन) कहते हैं और बर्कले उसे सर्वव्यापी ईश्वर की विज्ञप्तियों का संघात। अपने इन भौंडे प्रतिपादनों में वे इन्द्रियार्थों में पूर्वगृहीत सत्ता-बोध के आकलन का वैसा ही प्रयत्न कर रहे हैं जैसा प्लेटो बुद्धिवृत्ति में उन्मीलित अर्थों में निहित सत्ता-बोध का और औपनिषद ऋषि ऊर्ध्वतर प्रज्ञा में उन्मीलित अर्थों में निहित सत्ता-बोध का।

सन्दर्भ

1. 'अर्थावभासन' पद वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि की प्रथम कारिका से लिया गया है। किन्तु यह लेख उसकी व्याख्या या आलोचना नहीं होकर दार्शनिकों में व्यापक रूप से अंगीकृत सत्-विषयक धारणा की समीक्षा है।
2. उन्मीलन, जुलाई 2003
3. द्रष्टव्य हमारे लेख—'सत् का स्वरूप : सापेक्षता का प्रश्न', उन्मीलन, जुलाई, 2005 तथा 'नैतिक चिन्तन : भारतीय दृष्टि', समाज : दार्शनिक परीशीलन, द्वितीय संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर।



भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद के कुछ अनालोचित पक्ष

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी तन्त्रबद्धता रही है। आरम्भ से ही यहाँ दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व रहा है जो अपनी कुछ आधारभूत एवं मूलगामी मान्यताओं के साथ विकास की एक स्वकीय परम्परा में विकसित होते रहे हैं। भारतीय दर्शनों के विकास की इस बहुध्रुवीय और तन्त्रकेन्द्रित गतिशीलता में एक अवस्था के बाद एक विशेष प्रकार की योजनाबद्धता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस योजनाबद्धता के माध्यम से कुछ आधारभूत तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त विभिन्न दर्शनों की सम्प्रदाय-केन्द्रित निष्ठा से ऊपर अपनी स्वायत्तता को स्थापित करते हुए दृष्टिगत होते हैं। प्रकारान्तर रूप से विकसित ऐसे सिद्धान्तों की पहचान ऐसे प्रकरणों के रूप में की जा सकती है जिनका सरोकार भारतीय दर्शन के प्रायः सभी तन्त्रों से रहा है और उन सभी तन्त्रों के लिए तद्विषयक स्वपक्ष-स्थापन एवं परपक्ष-खण्डन अनिवार्य समझा जाता रहा है। वास्तव में ऐसे ही सिद्धान्तों के माध्यम से भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपनी तन्त्रबद्ध निष्ठा से बाहर आकर परस्पर आमने-सामने हुए हैं। इसी के चलते भारतीय दार्शनिक परम्परा में एक खुलापन आया और विभिन्न प्रकरणों के रूप में मूलभूत दार्शनिक समस्याएं उभरकर सामने आयीं। इसके साथ भारतीय दर्शन की आलोचनात्मकता का इसी क्रम में अभूतपूर्व विकास भी हुआ। यहाँ एक तथ्य जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि भारतीय दर्शनों का ऐसा विकास एकरेखीय रूप में नहीं हुआ। भारतीय दार्शनिक चिन्तन की यह एक मौलिक विशेषता रही है कि यहाँ एक ही समय और एक ही साथ वैकल्पिक दृष्टिकोणों का विकास होता रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन की विकासमानता ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती और कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परम्परा मान बैठते हैं, जबकि वैकल्पिक दृष्टियों, व्याख्याओं, यहाँ तक कि पुनर्व्याख्याओं की अन्तःसलिला भारतीय परम्परा में युक्तिमत रूप से अनवरत वर्द्धमान रही है।

उपर्युक्त रीति से भारतीय दर्शन को योजनाबद्धता प्रदान करने वाले प्रमुख प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों अथवा प्रकरणों को, जिन्हें केन्द्र में रखकर वैकल्पिक दृष्टिकोणों का विकास हुआ, मोटे तौर पर संवित् प्रकाशवाद, ज्ञानाकारवाद, विषयतावाद, प्रामाण्यवाद, ख्यातिवाद, सन्निकर्षवाद, प्राप्यकारित्ववाद, प्रमाणसम्प्लववाद, प्रमाणान्तर्भाववाद, व्याप्तिवाद इत्यादि के रूप में इंगित किया जा सकता है। प्रकरणों की यह सूची अन्तिम नहीं है, इनकी संख्या न्यूनाधिक रूप से बढ़ायी जा सकती है। यहाँ तक कि कुछ नये प्रकरणों की पहचान और पुरानों को और अधिक विकसित किया जाना भी सम्भव हुआ है। इनमें से अधिकांश प्रकरणों का भूरिशः विकास भी हुआ है। किन्तु कुछ

प्रकरण ऐसे भी हैं जिन पर किन्हीं कारणों से अपेक्षित ध्यान दिया जाना सम्भव नहीं हो पाया। प्राप्यकारित्ववाद भारतीय प्रमाणमीमांसा का एक ऐसा ही उपेक्षित प्रकरण रहा है, जबकि अन्य प्रकरणों की तुलना में यह प्राचीन भी है और इसकी व्याप्ति भी अन्यो से कम नहीं आँकी जा सकती। न्याय, बौद्ध, जैन, मीमांसा एवं वेदान्त सम्प्रदाय के आकर ग्रन्थों में इस समस्या के पक्ष-विपक्ष में जैसे सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उससे इसके महत्त्व का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। तब भी प्रामाण्यवाद, ख्यातिवाद इत्यादि प्रकरणों की तरह इसका विकास नहीं हुआ। द्रष्टव्य है कि इस विषय को लेकर कोई एक भी 'प्रकरण ग्रन्थ'¹ नहीं लिखा गया। इसलिए प्रस्तुत आलेख के पीछे जो हमारी मूलभूत परिकल्पना रही है वह यह कि इस भूले-बिसरे प्रकरण को सम्यक्तया उद्घाटित करते हुए एतद्विषयक वैकल्पिक दृष्टिकोणों, व्याख्याओं एवं पुनर्व्याख्याओं को सामने लाया जाये। यह सम्भव है कि आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं प्राणि तथा शरीर विज्ञान की दृष्टि से हमारे इस प्रयास की वैज्ञानिकता पर प्रश्नचिह्न लगाये जायें, क्योंकि यह विषय भी ऐसा है कि इसमें प्राकृतिक विज्ञान की कुछ शाखायें उचित रूप से अपना हस्तक्षेप दर्ज कर सकती हैं और उन्हें करना भी चाहिए, परन्तु इससे हमारे प्रयास का महत्त्व 'विचारों के इतिहास' की दृष्टि से कम नहीं हो जाता। इस रूप में भी इस समस्या पर भारतीय दर्शनों में जो विचार हुआ वह प्राकृतिक विज्ञानों के लिए विचार-सामग्री के तौर उपादेय इस अर्थ में हो सकता है कि उसकी सम्बन्धित शाखायें अपनी व्याख्या को यहाँ तक विस्तृत करें। एतदर्थ हम अपने इस प्रयास के औचित्य को वैज्ञानिक निर्धारण के रूप में न देखकर विचारों के इतिहास की दृष्टि से भी आत्मसात् कर सकते हैं। परन्तु बात ऐसी भी नहीं कि मन, मस्तिष्क, इन्द्रिय और अर्थ के आन्तर सम्बन्ध को पूरे तौर से समझते हुए प्राकृतिक विज्ञानों के द्वारा मानवीय संज्ञान की प्रक्रिया को अन्तिम रूप से निर्धारित किया जा चुका है। अभी भी बहुत से प्रश्न अनसुलझे ही हैं और आधुनिक मनोविज्ञान का एस.ओ.आर. फार्मूला² संज्ञान-प्रक्रिया की अत्यन्त जटिल संरचना को सर्वतोभावेन सुलझाने का दावा नहीं कर सकता है।

भारतीय ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व की समस्या इन्द्रियों की कार्यप्रणाली, अथवा कहे संज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञानेन्द्रियों की प्रस्थिति और भूमिका से सम्बन्धित है। प्राप्यकारित्व का साधारण तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों को या तो अपने अधिष्ठान में अथवा विषय-प्रदेश में प्राप्त कर प्रकाशित करती हैं। इसके विपरीत अप्राप्यकारित्व का अर्थ यह है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राप्त किये बिना ही उन्हें प्रकाशित करने में समर्थ होती हैं। जैसाकि इनके नाम से ही स्पष्ट है, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति की प्राकृतिक साधन हैं। इन्हीं के द्वारा कोई भी सेन्द्रिय प्राणी अपने चारों तरफ के वातावरण की प्राथमिक संसूचना ग्रहण करता है और अपने वातावरण से सन्तुलन बनाने में समर्थ होता है। प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से इन्द्रियों का महत्त्व प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के साधनभूत होने में है और यही ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष परोक्ष प्रकार के सभी ज्ञानों का उपजीव्य होता है। अब

यदि इन्द्रियों की प्रस्थिति पर विचार करें तो इस सन्दर्भ में न्याय दर्शन की यह बात बहुत मौलिक है कि इन्द्रियाँ शरीर से संयुक्त, ज्ञान की करण और अतीन्द्रिय होती हैं (शरीर संयुक्त ज्ञानकरणमतीन्द्रियं, इन्द्रियम्)।³ इन्द्रियों का शरीर-संयुक्त होना उनके संज्ञान-क्षेत्र की सीमा का निर्धारण है और ज्ञान का करण होना उस सीमा-क्षेत्र में उनकी विषयी भावापन्नता है तथा अतीन्द्रिय होना उनकी विषयापेक्षा, अर्थात् केवल और केवल बहिर्गति (पराञ्चिखानि) को दर्शाता है। वास्तव में इन्द्रियों की प्रस्थिति के निर्धारक ये तीनों घटक मिलकर ही उनकी भूमिका को तय करते हैं। शरीर-संयुक्त इन्द्रियों की प्रस्थिति पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि शरीर की बनावट में सबसे निम्न भाग पर त्वगिन्द्रिय होती है और उर्ध्व पर क्रमशः रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय होती हैं। ध्यातव्य है कि जो इन्द्रिय शरीर के जितने उर्ध्व भाग में होती है उसका संज्ञान-क्षेत्र न्यूनाधिक रूप से उतना ही विस्तृत होता है। इस तरह त्वक् से चक्षुपर्यन्त इन्द्रियाँ शरीर को केन्द्र अथवा अवधि बनाकर एक 'संज्ञान-क्षेत्र' का निर्माण करती हैं। प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता का प्रश्न प्रासंगिक रूप से यहीं उठता है और वास्तव में इसका विचार भी इसी संज्ञान-क्षेत्र के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। भारतीय परम्परा में दिव्य ऐन्द्रिक शक्ति के भी उदाहरण मिलते हैं, लेकिन प्रकृत प्रसंग के लिए यह एक अवान्तर बात है। यदि इस अवान्तर प्रसंग का प्राप्यकारित्ववाद से कोई आन्तर सम्बन्ध बनता भी है तो इसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे।

इन्द्रियों के संज्ञान क्षेत्र के बाद प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व के लिए जो आधारभूत महत्त्व की बात है वह है इन्द्रियों के विषय का वर्गीकरण। प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने निर्धारित विषय हैं। कोई भी इन्द्रिय किसी दूसरे के विषय-क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती। इस सन्दर्भ में इन्द्रियाँ सम्प्लव के विपरीत कठोरता से 'व्यवस्था के नियम' का अनुपालन करती हैं। इन्द्रियों में त्वगिन्द्रिय स्पर्श, जिह्वेन्द्रिय रस, नासिकेन्द्रिय घ्राण, कर्णेन्द्रिय शब्द, चक्षुरिन्द्रिय रूप और मनेन्द्रिय सुख-दुःख आदि विषयों का ग्रहण करती है। ऊपर से देखने पर यह कहा जा सकता है कि इस रूप में इन्द्रियों के विषय का निर्धारण उनकी स्वरूप-योग्यता है, लेकिन अन्दर से देखने पर यह कारणमूलक सिद्ध होता है। भारतीय दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति पर 'वैश्विक' प्रश्न उठाकर उनके उपादान का विचार किया गया है। ऋग्वेद में विराट् पुरुष की इन्द्रियों से देवताओं की और देवताओं से व्यष्टि पुरुष में इन्द्रियों के उत्पत्ति-क्रम की व्यवस्था बताई गई है। इसका स्पष्ट संकेत पुरुष-सूक्त-चंद्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत॥⁴ में प्राप्त होता है। ऐतरेय उपनिषद् में इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है—अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभि प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्। अर्थात् विराट् पुरुष स्थित देवताओं—अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्,

औषधि-वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु और अप् ने व्यष्टि पुरुष के शरीरस्थ मुख, नासिका, अक्षि, कर्ण, त्वक्, हृदय, नाभि और शिश्न में प्रवेश किया। महाभारत^६ में भी इन्द्रियों की वैश्विकता बड़े ही सुसंगत ढंग से इस प्रकार बतायी गई है। वह इस प्रकार है—

भूत	अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
आकाश	श्रोत्र	शब्द	दिक्
वायु	त्वक्	स्पर्श	विद्युत्
अग्नि	चक्षुः	रूप	सूर्य
अप्	जिह्वा	रस	सोम
पृथ्वी	घ्राण	गन्ध	वायु
-	पाद	गन्तव्य	विष्णु
-	पायु	विसर्ग	मित्र
-	उपस्थ	शुक्र	प्रजापति
-	हस्त	कर्म	शक्र
-	वाक्	वक्तव्य	वह्नि
-	मन	मन्तव्य	चन्द्रमा
-	बुद्धि	विज्ञेय	ब्रह्मा

पुनः, महाभारत^७ में कहा गया है कि—करणं कर्म-कर्ता च मोक्ष इत्येव भामिनि। चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम्॥ अर्थात् करण, कर्म, कर्ता, तथा मोक्ष में ही समस्त जगत् व्याप्त रहता है। करणादि-त्रय का यथावत् ज्ञान ही मोक्ष है। अतः शेष तीन की व्यवस्था इस प्रकार बताई गई है। यही व्यवस्था सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में भी न्यूनाधिक रूप से मान्य की गई है।

करण = गुण- हेतु घ्राण जिह्वा चक्षु त्वक् श्रोत्र मन बुद्धि
 कर्म- हेतु गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द मन्तव्य बोद्धव्य
 कर्तृ- हेतु घ्राता रसयिता द्रष्टा स्पर्श श्रोता मन्ता बोद्धा

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि मुख्य रूप से पाँच ज्ञानेन्द्रियों के उपादान का विचार पंचमहाभूतों के सन्दर्भ में किया गया है। जिस इन्द्रिय का उपादान जो महाभूत है उसी का प्रधान गुण उस इन्द्रिय का विषय बनता है, अर्थात् उसी की ग्रहण-क्षमता उसमें निरपवाद रूप से होती है। संक्षेप में इस व्यवस्था को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

महाभूत	इन्द्रिय	विषय	महाभूतों के प्रधान गुण
पृथ्वी	घ्राणेन्द्रिय	गन्ध	पृथ्वी का व्यावर्तक गुण
जल	जिह्वेन्द्रिय	रस	अप् का व्यावर्तक गुण
तेज	चक्षुरिन्द्रिय	रूप	अग्नि का व्यावर्तक गुण
वायु	त्वगिन्द्रिय	स्पर्श	वायु का व्यावर्तक गुण
आकाश	श्रोत्रेन्द्रिय	शब्द	आकाश का व्यावर्तक गुण

इस व्यवस्था की पुष्टि भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में भी की गई है। सुश्रुत⁷ का मत है कि इन्द्रियों द्वारा उसी विषय का ग्रहण होता है जिसकी जिसके साथ उपादानगततुल्यता रहती है। अन्य इन्द्रियों से अन्य उपादानभूत विषय का ग्रहण नहीं होता। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें ऐन्द्रिय-विषय-ग्रहण-योग्यता को ईश्वरेच्छा या विचित्र प्राकृत परिणामपरक न मानकर दोनों में योनिमूलक एकता की स्थापना की गई है (इन्द्रियाणीन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं ग्रहणाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥)।

इस प्रकार महाभूत योनि के द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय से वेद्य होने वाले विषयों के निर्धारण के पश्चात् इन्द्रियों की कार्य-प्रणाली अथवा विषय-ग्रहण की प्रक्रिया में 'माध्यम' का विचार भी अनुषंगी रूप में बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में आलोकादि सहकारी कारण ही 'माध्यम' की भूमिका में होते हैं और इनकी भूमिका भी इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व के लिए परिप्रेक्ष्य का निर्माण करती है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में सीधे-सीधे इन्द्रियों की कार्यप्रणाली के सन्दर्भ में 'माध्यम' का विचार नहीं किया गया है, लेकिन प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व का निर्धारण करते हुए कई प्रसंगों में इस तथ्य को ध्यान में रखा गया है। बौद्ध दर्शन की पाली परम्परा⁸ में चक्षुर्विज्ञान के लिए क्रमशः वायुधातु, अपघातु और पृथ्वीधातु का विचार सहकारी कारणरूप माध्यम के तौर पर ही है। साथ ही साथ इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण की प्रक्रिया में माध्यमों के योगायोग के अनुसार प्राप्य-अप्राप्यकारित्व का निर्धारण किया गया है।⁹ ऐसे ही महाभारत में इन्द्रियों के भूत, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का जो विचार किया गया है उसमें अधिदैवतों की भूमिका माध्यम के रूप में भी स्वीकार की जा सकती है। उदाहरण के लिए पंच ज्ञानेन्द्रियों के अधिदैवतों में श्रोत्र के लिए दिक्, त्वक् के लिए विद्युत्, चक्षु के लिए सूर्य, जिह्वा के लिए सोम और घ्राण के लिए वायु की व्यवस्था मान्य की गई है। ऐसे ही न्याय, मीमांसा और वेदान्त आदि दर्शनों में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता को स्पष्ट करने के लिए वीचितरंग-न्याय, कदम्बमुकुल-न्याय तथा सौर आलोकादि का जो दृष्टान्त बनाया जाता है उसमें भी वायु, तेज, आकाश इत्यादि को माध्यम रूप से ही प्रयुक्त किया जाता है। अतएव कहा जा सकता है कि इन्द्रियों की कार्यप्रणाली और उनके द्वारा विषय-ग्रहण की प्रक्रिया में सहकारी कारण रूप से 'माध्यम' का विचार तो किया गया है लेकिन इन्द्रियों की

प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता के सन्दर्भ में माध्यमों की भूमिका को और अधिक सतर्कता से तय करने की आवश्यकता है।

वास्तव में देखा जाय तो इस रूप से 'माध्यम' का विचार स्वयं इन्द्रियों के लिए इतना अपेक्षित नहीं है जितना कि रूप-शब्दादि विषयों के इन्द्रियग्राह्य होने के लिए अपेक्षित है। वस्तुतः जिस प्रकार अलग-अलग इन्द्रियों में अलग-अलग विषयों के ग्रहण-प्रकाशन की योग्यता होती है उसी प्रकार अर्थों में भी अर्थ्यमानता होती है। अर्थग्रहणेनार्थ्यमानतया ज्ञेयस्वरूपयोग्यतादर्शिता।¹⁰ अर्थात् अर्थ की अर्थ्यमानता का अभिप्राय उनकी ज्ञेयस्वरूप-योग्यता है। प्रकृत प्रसंग में 'माध्यम' का विचार अर्थों की अर्थ्यमानता के लिए अनुग्राह्य और उपकारक रूप से ही उपादेय है। यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि रूप-शब्दादि विषय जिस-जिस माध्यम से इन्द्रियग्राह्य होते हैं वे सभी माध्यम इन्द्रियों के लिए प्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य का निर्माण करते हैं अथवा अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य का? प्रथमदृष्ट्या माध्यम का विचार इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का ही समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है, लेकिन गम्भीरता से विचार करने पर विदित होता है कि कुछेक माध्यम अपनी विशेषता के कारण इन्द्रियों के लिए अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य का भी निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ माध्यम सप्रतिघ और अनुग्राहक प्रकृति के होते हैं। इनकी विशिष्टता यह है कि ऐसे माध्यम इन्द्रियग्राह्य विषयों के सूक्ष्म परमाणुओं का संवहन करते हैं। गंध, स्पर्श और रसना के लिए अपेक्षित माध्यम इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। इन माध्यमों के द्वारा विषय को इस रूप में ही उपलब्ध किया जाता है कि उनका इन्द्रियों के द्वारा प्राप्यकारी रूप से ही ग्रहण हो पाता है। इसके विपरीत कुछ माध्यमों की प्रकृति अप्रतिघ और उपकारक किस्म की होती है। इनकी विशिष्टता यह है कि ऐसे माध्यम इन्द्रियग्राह्य विषयों के सूक्ष्म परमाणुओं का लेश्यतोऽपि संवहन नहीं करते हैं। आकाश, दिक् और प्रकाश जैसे माध्यम इसी कोटि के होते हैं। इसलिए ऐसे माध्यम शब्द-रूपादि विषयों के अप्राप्यकारी ग्रहण में बाधक नहीं बनते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्रकृत प्रसंग में सप्रतिघ माध्यम अनुग्राहक होने के कारण अपने विषय की महाभूत परम्परा का प्रसार करते हैं जबकि अप्रतिघ माध्यम उपकारक मात्र होने के कारण अपने विषय की महाभूत परम्परा का किंचित् भी प्रसार नहीं करते। अतः सप्रतिघ एवं अप्रतिघ भेद से तथाकथित 'माध्यम' इन्द्रियवेद्यत्व के प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों ही परिप्रेक्ष्यों का निर्माण करते हैं।¹¹ सप्रतिघ और अप्रतिघ माध्यम की दृष्टि से भारतीय दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्दग्रहण की प्रक्रिया बहुत विवादास्पद है। कुछ दर्शन शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशीय योनि से जोड़ते हैं जबकि कुछ इसे वायवीय योनि का मानते हैं। प्रथम दृष्टि से आकाश 'शब्द' का उपकारक होता है जबकि दूसरी दृष्टि से वायु 'शब्द' का अनुग्राहक बनता है। इसी कारण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द-ग्रहण को लेकर अप्राप्यकारी और प्राप्यकारी दोनों प्रकार के विचार मिलते हैं।

पुनः, इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण की प्रक्रिया में माध्यमों की भूमिका के अतिरिक्त उनके प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व को प्रभावित करने वाले एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप

में 'प्रत्यासत्ति' के प्रारूप सम्बन्धी विचार को लिया जा सकता है। साधारणतया प्रत्यासत्ति शब्द का प्रयोग ज्ञान के प्रसंग में किया जाता है, लेकिन इसका विशेष अर्थ दृश्य-दर्शन सम्बन्ध में घटित होने वाले ज्ञान के उस प्रारूप से है कि उत्पन्न होने वाला ज्ञान किस रूप से घटित होता है।¹¹ अवधेय है कि इन्द्रिय, विषय और तथाकथित माध्यमों का समान देशकालवर्ती होना ही 'इदं दृष्टं, इदं श्रुतं, इदं वेदम्' के लिए पर्याप्त नहीं बल्कि प्रत्यासत्ति भी आवश्यक है। पुनः, इन्द्रियवेद्यत्व के लिए किसी एक ही प्रकार की प्रत्यासत्ति को स्वीकार किया जाय, यह आवश्यक नहीं। इसमें भी अन्तर किया जा सकता है। इस अन्तर के द्वारा भी इन्द्रियों के प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य में भेद होना स्वाभाविक ही है। अतएव प्रकृत समस्या पर इस दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। ऐसा भी नहीं कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रत्यासत्तिपरक भेद को ध्यान में न रखा गया हो। देखा जाय तो साक्षात् प्रमिति के कारण की व्याख्या में इन्द्रियकारणता और ज्ञानकारणता तथा दोनों के अवान्तर भेदों में जो अन्तर किया गया है वह कहीं न कहीं से प्रत्यासत्ति-भेदमूलक ही प्रतीत होता है। यह बात अलग है कि प्रत्यासत्ति-भेद के सम्भावित विकल्पों के सन्दर्भ में प्राप्यकारिता एवं अप्राप्यकारिता का विचार नहीं किया गया है। एक ओर ज्ञान का विविध रूप से घटित होना और दूसरी ओर साम्प्रदायिक अधिमान्यताओं के अनुरूप उसे व्याख्यायित करने की प्रवृत्ति, इनके क्रम में प्रत्यासत्ति के विभिन्न भेदों को रेखांकित किया जा सकता है। यह विषय और इन्द्रिय के बीच संबंध दो द्रव्यों की तरह संयोगरूपा प्रत्यासत्ति, वर्णाकृति और दर्पणादि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बरूपा प्रत्यासत्ति, सदृशवस्तु के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्त-भावरूपा प्रत्यासत्ति, गन्धस्पर्शदि और त्वकनासिकादि इन्द्रिय की तरह ग्राह्यग्राहक-भावरूपा प्रत्यासत्ति, घटप्रदीपादि की तरह प्रकाश्यप्रकाशक-भावरूपा प्रत्यासत्ति, आत्मचेतना और अहंकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूप इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासत्ति, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य में तादात्म्यभावरूपा प्रत्यासत्ति तथा लौह पिण्ड एवं अयस्कान्तमणि की तरह आकर्ष्य-आकर्षण-भावरूपा प्रत्यासत्ति नामक विभिन्न प्रकार का हो सकता है। यद्यपि साक्षात् प्रमिति के सन्दर्भ में प्रत्यासत्ति के उपर्युक्त सभी विकल्पों की व्याख्या और निर्धारण एक कठिन कार्य है तथापि इन्द्रियों की प्रकृति और योग्यता में स्फुट अन्तर को ध्यान में रखते हुए कम से कम ग्राह्य-ग्राहक-भावरूपा प्रत्यासत्ति, प्रकाश्यप्रकाशक-भावरूपा प्रत्यासत्ति एवं बिम्बप्रतिबिम्ब-रूपा प्रत्यासत्ति का विचार प्रकृत प्रसंग में अवश्य किया जाना चाहिए। इन तीनों विकल्पों में पहले को प्राप्यकारिता से जोड़ा जा सकता है, जो रसना, त्वचा और घ्राणेन्द्रिय के साथ ठीक बैठता है। शेष दो विकल्प अप्राप्यकारी सम्भावनाओं को प्रस्तुत करते हैं और उनकी संगति न्यूनाधिक रूप में चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रिय से बैठती है।

इस प्रकार इन्द्रियों की कार्यप्रणाली के विभिन्न घटकों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता का निर्धारण किसी एक परिप्रेक्ष्य में नहीं किया जा

सकता। ऊपर जिन-जिन परिप्रेक्ष्यों की विवेचना की गई है वे सभी मिलकर इन्द्रियों की प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी भूमिका का निर्धारण करते हैं। भारतीय दर्शन में प्रकृत समस्या पर विचार करते हुए उपर्युक्त परिप्रेक्ष्यों पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है, बल्कि इससे सम्बन्धित जो प्रारम्भिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं वे सभी लोकबुद्धि पर आधारित और विविध दृष्टान्तों के सहारे प्रकृत विचार का स्पष्टीकरण करने वाले कहे जा सकते हैं। बाद में भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा और तदनुरूप प्रमाणमीमांसा की अवधारणात्मक माँग जैसे-जैसे स्पष्ट और दृढ़ होती गई वैसे-वैसे प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व की व्याख्यायें साम्प्रदायिक वासनाओं से रूषित होकर जटिल होती गई हैं। कुमारिल भट्ट¹² अपने श्लोकवार्तिक में प्रकृत समस्या की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि प्राप्यकारित्ववादी विचार के आद्य प्रस्तावक वास्तव में सांख्य दार्शनिक रहे हैं। यद्यपि सांख्यदर्शन के सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों में इस समस्या की चर्चा उतने विस्तार से नहीं मिलती जितनी कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में मिलती है। न्यायसूत्र¹³ के परीक्षा प्रकरण में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का पक्ष पूर्वपक्षसहित उठाया गया है, लेकिन वहाँ पूर्वपक्ष की ऐतिहासिक पहचान को सुनिश्चित करना कठिन कार्य है। सम्भवतः इस पूर्वपक्ष को नागार्जुन की रचनाओं में न्यूनाधिक रूप से देखा जा सकता है, क्योंकि नागार्जुन¹⁴ के ग्रन्थों में ऐसे विचार मिलते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा विषय-ग्रहण सम्भव ही नहीं है। तब भी नागार्जुन के ऐसे विचार को अप्राप्यकारित्ववाद का आद्य प्रस्ताव नहीं कहा जा सकता। हाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का विरोध सर्वप्रथम बौद्धों और वैयाकरणों के मत में उद्भाविता हुआ है। बौद्धदर्शन की पाली परम्परा में इन्द्रियों के सम्प्राप्तग्राहित्व और असम्प्राप्तग्राहित्व का विचार विवेचित रूप से मिलता है। इसी को कालान्तर में आगे बढ़ाते हुए दिङ्नाग ने नैयायिकों के इस मत का प्रबल विरोध किया कि इन्द्रियाँ नियम से प्राप्यकारी होती हैं। वस्तुतः इसी विरोध के परिणामस्वरूप भारतीय दर्शन में प्रकृत समस्या का दार्शनिक विस्तार हुआ है। नैयायिकों की विचार-पद्धति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष इन्द्रियों को प्राप्यकारी माने बिना सम्भव नहीं है। अतः प्राप्यकारित्ववाद का आद्यन्त समर्थन नैयायिकों के लिए अनिवार्य हो जाता है। परन्तु देखा जाय तो नैयायिकों ने सन्निकर्ष का निर्धारण और व्यवस्थापन प्राप्यकारिता की आधारभूत परिस्थितियों के अनुरूप नहीं किया है, बल्कि प्राप्यकारित्व की व्याख्या करते हुए उसे अपेक्षित सन्निकर्ष तक खींचने का अतिरेकपूर्ण प्रयास किया है। चक्षु से ज्योति का निकलना, इन्द्रियों का विषयदेश तक गमन करना, शरीर-संयुक्त और शरीर-वियुक्त रूप से इन्द्रियों का अर्थ से सन्निकर्ष स्थापित करना, सभी इन्द्रियों को बाह्येन्द्रिय मानकर उनकी कार्यप्रणाली में आनुमानिक एकता स्थापित करना इत्यादि सन्निकर्ष-सापेक्ष प्राप्यकारिता के ही लक्षण कहे जा सकते हैं, प्राप्यकारिता-सापेक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के नहीं। वास्तव में नैयायिकों को प्राप्यकारिता को ही आधारभूत मानकर इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की स्थितियों को सुनिश्चित करना चाहिए था।

नैयायिकों के पश्चात् मीमांसकों ने प्राप्यकारित्ववाद के समर्थन में अग्रणी भूमिका निभाई है। कुमारिल ने इस सन्दर्भ में बौद्धों के उत्तर हेतु जैसा सशक्त प्रयास किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु इस प्रसंग में कुमारिल की यह बात समझ में नहीं आती कि उन्होंने इस समस्या को सांख्यवादियों का पक्ष बताकर स्वयं को पक्षधर क्यों बनाया? पुनः, इस बात के लिए वे अपनी ओर से कोई स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत नहीं करते। कुमारिल की इस गुप्त योजना पर विचार करने से मुझे ऐसा लगता है कि वे ऐसा करते हुए एक पंथ और दो काज को सिद्ध करते हैं। अवधेय है कि शंकराचार्य ने सांख्यों को अशाब्दिक कहते हुए उनके अपौरुषेय श्रुतिवाद के विरोधी होने का संकेत किया है। साथ ही, प्राचीन सांख्यों की कतिपय मान्यताओं में सर्वज्ञता जैसी अवधारणा के बीज भी विद्यमान थे, इस बात को नकारा नहीं जा सकता। अब, कुमारिल सांख्यों को प्राप्यकारित्ववाद का पक्षकार बनाकर न केवल बौद्धों की प्राप्यकारित्व-विरोधी युक्तियों का उनकी ओर से उत्तर देते हैं बल्कि श्रमण परम्परा में विकसित हो रही सर्वज्ञता की अवधारणा के खण्डन के लिए आधार भी निर्मित कर लेते हैं। मीमांसकों द्वारा सर्वज्ञता के खण्डन हेतु उसके विरोध में प्रस्तुत की गई युक्तियों में इस आशय को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि सर्वज्ञता की सम्भावना ही श्रमण परम्परा में आम्नाय के समानान्तर आगम-प्रामाण्य को आधार प्रदान करती है। इस प्रकार प्राप्यकारित्ववाद का सांख्यपक्षीय पक्षधर होने में कुमारिल एक अवान्तर लक्ष्य 'श्रुति की परमोच्चता' को साधते हुए प्रतीत होते हैं।

भारतीय दर्शन में इसके पश्चात् इन्द्रियों के प्राप्यकारित्वप्राप्यकारित्व का विकास एक भिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। इस विकास की केन्द्रीय दृष्टि सन्निकर्ष की अवधारणा के समूल विरोध और साथ ही साथ प्राप्यकारित्ववाद के समर्थन में फलित होती है। अवधेय है कि जहाँ न्याय और मीमांसा दर्शन में ज्ञान की व्याख्या गुण और कर्म के रूप में की गई है वहीं सांख्य से लेकर वेदान्त और उससे आगे शैव, काश्मीर शैव दर्शन तक में इसे चेतना में विषयाकार वृत्ति रूप से व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। विषयाकार वृत्ति की अवधारणा और प्रक्रिया को लेकर साम्प्रदायिक भेद यद्यपि बहुत सूक्ष्म रहे हैं, लेकिन एक बात जो समान है वह यह कि वृत्ति के लिए उस प्रकार से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है जैसा कि नैयायिक इसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मान बैठे थे। इसलिए इन दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा सन्निकर्षवाद को पूर्वपक्ष बनाकर उसका भूरिशः खण्डन किया गया है। परन्तु इससे इन्द्रियों के द्वारिभाव पूर्वक प्राप्यकारिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता, बल्कि इस प्रक्रिया में चेतना के विषयाकार परिणाम हेतु इन्द्रियों की प्राप्यकारिता अथवा इन्द्रियों की विषयाकारमूलक प्राप्यकारिता और अधिक पुष्ट रूप में अक्षुण्ण बनी रहती है। वस्तुतः प्राप्यकारित्ववाद के इस दिशा में विकसित होने से जो एक नई बात निर्णायक रूप से उभरकर सामन आई वह यह कि इन्द्रियों का अपना-अपना स्वभाव महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि चेतना, मन, बुद्धि, अन्तःकरण में होने वाले विषयाकार परिणाम के परिच्छेद के लिए परिच्छेदक इन्द्रियाँ ही हो सकती हैं। और तब इन्द्रियों के स्वभाव को महत्त्व देना अपरिहार्य

हो जाता है। इस रूप में इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण में नैसर्गिक योग्यता रूप स्वभाव को महत्त्व देना स्वयं नैयायकों एवं मीमांसकों के लिए भी किसी न किसी रूप में आवश्यक हो जाता है, लेकिन वे विविध प्रकार के परस्पर जुड़े हुए सन्निकर्षों को मानकर इसे गड़मगड़ कर देते हैं। नैसर्गिक योग्यता की अवधारणा में जो एक कठिनाई है वह यह कि योग्यता यावद् द्रव्यभाविनी होती है, अतः सर्वदा प्रत्यक्ष को स्वीकार करना होगा। नैयायिकादि इसका समाधान सन्निकर्ष रूप विशेष सम्बन्ध मानकर करते हैं, फिर भी सन्निकर्षवाद की अन्य कठिनाइयाँ भी अन्य सन्दर्भों में विचारणीय हैं। वृत्तिवादी दार्शनिक इस समस्या का समाधान मन अथवा अन्तःकरण को इन्द्रियों के उन्मुखीकरण का दायित्व प्रदान कर कर सकते हैं।

द्रष्टव्य है कि इन्द्रियों की नैसर्गिक योग्यता की बात को बौद्धों एवं वैयाकरणों की परम्परा ने बहुत गहराई से पकड़ा है। यद्यपि दोनों अपने-अपने तरीके से वृत्तिवादी गोत्र के ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि वैयाकरण-मत में विषयग्रहण 'बुद्धिविपरिणाम'¹⁵ रूप से होता है तो बौद्धमत में 'सारूप्यभावेन'¹⁶ होता है, लेकिन दोनों परम्पराओं में इन्द्रियों की योग्यता को नियम से प्राप्यकारी नहीं माना गया है। आद्योपान्त रूप से विचार करने पर व्याकरण-मत इन्द्रियमात्र के अप्राप्यकारित्व में पर्यवसित हो जाता है तो बौद्धमत में चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रिय की स्वरूप-योग्यता अप्राप्यकारी एवं शेष की प्राप्यकारी योग्यता ही निर्धारित की गई है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध ज्ञान की कारण-सामग्रियों के बीच किसी प्रकार का सन्निकर्ष नहीं मानते, बल्कि उनका सन्निपात (त्रिक सन्निपात) स्वीकार करते हैं। त्रिक सन्निपात का आशय ज्ञानोत्पत्ति के क्रियामीमांसीय सिद्धान्त का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित करना है कि ज्ञान की कारण-सामग्रियों (इन्द्रिय, रूप और विज्ञान आदि) के समवधान मात्र से ही ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। इसके लिए संयोग-समवायादि सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है। अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता उनके प्राप्यकारी होने में है अथवा अप्राप्यकारी होने में? मेरे विचार से इन्द्रिय मात्र के लिए ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। इन्द्रियों की विषय-ग्रहणात्मक स्वरूप-योग्यता का निर्धारण उनकी महाभूत योनि से एवं उन माध्यमों से होता है जो विषयों को अर्थ्यमान बनाते हैं। इस पर विचार करते हुए हमने पूर्व में ही दिखाया है कि इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता के निर्धारक घटक दोनों प्रकार की, अर्थात् प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी, योग्यता की सम्भावना प्रस्तुत करते हैं। अतः अलग-अलग दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी अधिमान्यताओं के अनुरूप विषयग्रहण की सम्यक् व्याख्या के लिए इन्द्रियों की स्वरूप योग्यता के अतिरिक्त कुछ और भले ही स्वीकार करें, लेकिन जहाँ तक उनकी स्वरूपयोग्यता के प्राप्यकारी अथवा अप्राप्यकारी होने का प्रश्न है तो इन्द्रिय-भेद पूर्वक दोनों को स्वीकार करना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व वाद भारतीय दर्शन का एक ऐसा 'प्रकरण' है जिसकी परिव्याप्ति उसके सम्पूर्ण प्रमाण-शास्त्रीय चिन्तन में है। यह जितना आधारभूत है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण कि इस प्रकरण की

प्रकृति निर्धारणात्मक है और ऐसा होने से इसकी एक अपनी स्वायत्तता है। यह प्रमाणमीमांसा के अन्य अन्तरंग अवयवों की तरह उतना लचीला भी नहीं है कि इसका सुविधापेक्षी उपयोग किया जा सके। किसी प्रमाणमीमांसा के प्रति इन्द्रियों की प्राप्यप्राप्यकारी भूमिका बाहर से समर्थन देने वाले घटक के रूप में होती है। अतएव इसकी निर्धारणात्मकता को किसी प्रमाणमीमांसा विशेष की आन्तरिक अपेक्षाओं के अनुरूप आसानी से ढाला भी नहीं जा सकता। अवधेय है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में वैकल्पिक दृष्टिकोणों का विकास अधिकांशतः अधिप्रमाणमीमांसीय रूप से हुआ है। इसीलिए विभिन्न दर्शनों की प्रमाणमीमांसा पर उनकी तत्त्वमीमांसा का अधिशासन सर्वत्र दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह देखना अत्यन्त रोचक हो सकता है कि इन्द्रियों की प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी भूमिका को भारतीय दर्शनों की सम्प्रदाय-केन्द्रित प्रमाणमीमांसा और तज्जनित वैकल्पिक दृष्टिकोणों के साथ किस तरह आत्मसात् किया गया है। इस रूप में यह न केवल रोचक बल्कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की आधारिक समझ और उसमें गहरे पैठ के लिए आवश्यक भी है।

दर्शन विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर-470003

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ

1. शास्त्रैकदेश सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरेस्थितम्। आहुः प्रकरणं नामं ग्रन्थ-भेद विपश्चिताम्॥ पाराशरोपपुराण-अ. 18
2. द्रष्टव्य-समेकित दार्शनिक विमर्श (सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा) विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2005, पृ. 331
3. केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. 32
4. ऋग्वेद्-10-30-13, 14
5. ऐतरेय उपनिषद्-2/4
6. महाभारत-14/42/27-39
7. वही-14/25/3 एवं प्रश्नोपनिषद् 4/8
8. सुश्रुतसंहिता-1/19
9. द्रष्टव्य-भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, (सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा में मेरा लेख-'बौद्ध दर्शन में इन्द्रियों का योग्यतामूलक सम्प्राप्त-असम्प्राप्त ग्राहित्व।')

10. वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका, पृ. 109, सम्पा. राजेश्वर शास्त्री द्रविड, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
11. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दी) 2/324
12. कुमारिल भट्ट-श्लोकवार्तिक-प्रत्यक्षपरिच्छेद-40-51
13. न्याय सूत्र-3/1/44
14. नागार्जुन, मध्यमकशास्त्र-3/2-स्वामात्मानं दर्शनं हि तत् तमेव न पश्यति। न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति तत् परान्॥
15. नागेश भट्ट-परमलघु मंजूषा-पृ. 298-चित्तस्य विषयाकार परिणामरूपा ... इत्याद्युपपद्यते।
16. धर्मकीर्ति-न्यायविन्दु-1/21-अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। विशेषतः द्रष्टव्य उन्मीलन-18-1, 2004 में प्रकाशित मेरा लेख 'बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा।'



धर्म और नीति

मुकुन्द लाठ

पिछले लेख के अंत में जो प्रश्न उभरा है, व्यक्ति-समष्टि-विरोध का, पुराना है। उस लेख का आरंभ भी प्रकारान्तर से इसी प्रश्न से हुआ था। पर कह सकते हैं कि लेख में आई चर्चा के बाद प्रश्न के मूल में बैठी समष्टि से आक्रान्त व्यक्ति-चेतना की अकुलाहट एक नई गहराई, नई हैरानी और नये विक्षोभ के साथ उभरती है। चर्चा में हमने मनुष्य के धर्म-बोध को मनुष्य की जाति-चेतना में जागते एक अतिक्रामी—‘अदृष्ट’ बोध के साथ जोड़ा—उसे चेतना के ही एक ऊर्ध्वतर आयाम की अभिव्यक्ति कहा—जो हममें एक अपूर्व औचित्य-बोध के साथ जागती है। हमारे किये को कर्म बनाती है। यह पशु में नहीं होती, मनुष्य में यह ‘अपूर्व’ है। भाषा की तरह यह बोध जातीय स्तर पर जागता है और समष्टि के व्यवहार में नियम का रूप लेता है। भाषा के नियम की तरह इस नियम का बीज, इसका उत्स अदृष्ट रहता है। ये नियम समाज में उभरते हैं—कोई समाज इनके बिना नहीं होता—पर ये नियमित (नियन्त्रित) व्यक्ति को करते हैं।

व्यक्ति इन नियमों के भीतर रहता हुआ ही व्यक्ति-रूप होता है। जिस चेतना के एक मोड़ के साथ कर्म में औचित्य-बोध नियम का रूप लेता है वह मनुष्य की जाति-चेतना होती है, व्यक्ति-चेतना भी चेतना के उसी आयाम में स्फुट होती है। देह-चित्त-कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध, कर्तृत्व, संकल्प, ये व्यक्ति-चेतना में ही होते हैं, वही आत्मचेतन होती है, स्वतंत्र होती है, कर्म करती है। हम देख आये हैं कि व्यक्ति को केन्द्र करती हुई आत्मचेतना, एक मध्यस्थता में पलती है। यह मध्यस्थता व्यक्ति को प्राश्निक बनाती है, प्रेक्षक बनाती है : विमर्श करती है, कर्म को अध्यवसाय करती है, वरण करती है, त्यागती-स्वीकारती है, औचित्य की, प्रमाण की माँग करती है। अपनी इस चेतना में व्यक्ति को लग सकता है—और ऐसा अनुभव होता भी है—कि व्यक्ति-चेतना जातीय-चेतना में उभरे ढाँचे-नियमों के भीतर अपने को कसा-बँधा पाये, जकड़ाव का, कुण्ठा का बोध करे। इससे भी गहरे, लग सकता है कि मनुष्य का जातीय, सामूहिक-सामाजिक रूप, जिसके नियमों में हमने चेतना के ऊर्ध्वतर प्रत्येक-भाव की अभिव्यक्ति देखी है, वह व्यक्ति-बोध का सहगामी हो। माना, और चलिए, यह भी माना कि वही व्यक्ति को संभव करता है, लेकिन फिर भी वह व्यक्ति की *संभावना* को खोलता नहीं, सीमित-संकीर्ण ही कर देता है। मनुष्य की पशु से ऊर्ध्वतर चेतना का लक्षण आत्मचेतना ही कहा जा सकता है। किन्तु आत्मचेतना व्यक्तिगत होती है, समष्टिगत नहीं। समाज-चेतना तो अपनी रूढ़, निर्वैयक्तिक अंध गतानुगतिकता में

व्यक्ति को भी निर्वैयक्तिक बना देना चाहती है। व्यक्ति जितना ही अपने प्रति आत्मचेतन होता है उतना ही समाज का तंत्र उसे सताता है। उसके स्वातंत्र्य को अवरुद्ध-पीड़ित करता है।

पर पिछली चर्चा में हमने स्वातन्त्र्य का स्रोत भी व्यक्ति से ऊर्ध्व चेतना में पाया था, जो व्यक्ति को मध्यस्थ रखकर आत्मचेतन बनाता है। वह चेतना के प्रत्यक्-भाव को ऊह्य रखता है : आत्मचेतना बनती ही चेतना के अपने पीछे हटकर आत्मप्रेक्षण से है। यह गति व्यक्ति को केन्द्र बना कर बनती है, पर होती चेतना की अपनी गति है। व्यक्ति की मध्यस्थ-चेतना, उसका स्व-प्रेक्षकत्व, स्व-नियोजकत्व-कर्तृत्व भी प्रत्यक्-चेतना के बिना अकल्पनीय है। व्यक्ति में जागता औचित्य-बोध, जिसके बिना कर्म ही अकल्पनीय है, वह भी चेतना के प्रत्यक्-भाव में ही जागता, घर करता है। यह निर्वैयक्तिक सामान्य होता है, व्यक्ति का नहीं होता, व्यक्ति में होता है। व्यक्ति के औचित्य-बोध को चेतना के अपने स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति या विसृष्टि भी कहा जा सकता है : आत्मचेतना के साथ उसका आत्मप्राकट्य। इस सामान्य चेतना को हम व्यक्ति-चेतना से अलग करने के लिए 'चेतन्य' या 'चित्' भी कह सकते हैं। पर जो भी कहें, व्यक्ति की आत्मचेतना और इस चेतना का स्वतंत्र, निर्वैयक्तिक, सामान्य तन्त्र औचित्य-बोध को व्यक्ति की मध्यस्थता देता है।

पर किसी व्यक्तिवादी को इससे भी व्यक्ति की सत्ता, उसका अपना स्वातन्त्र्य छोटा होता दीख सकता है : 'मेरा स्वातन्त्र्य मुझमें ही प्रतिष्ठित होना चाहिए, मुझसे परे किसी ऊर्ध्व या निम्न सत्त्व या तत्त्व में नहीं।' या वह कह सकता है कि मेरा स्व जहाँ तक अपना तन्त्र, अपनी व्यवस्था, बना सकता है वहीं तक स्वतन्त्र होता है। मेरे स्वातन्त्र्य को मुझे से बाहर किसी और तन्त्र में रखना, चाहे वह तन्त्र मुझे विराद् हो, अपने आप में स्वतन्त्र, स्व-प्रतिष्ठित तन्त्र ही क्यों न हो, पर वह मुझे निगीर्ण करता है तो मेरा नहीं है। क्योंकि यों मैं तत्त्वतः स्वतन्त्र कहाँ रहा? पर-तन्त्र ही तो हुआ! पारतन्त्र्य प्रकृति के कार्य-कारण भाव का हो, या कि बृहत् कहलाती चेतना का, है तो मेरे स्वातन्त्र्य का व्याघातक ही। मेरा सच्चा स्वातन्त्र्य मेरी स्व-चेतना का अनतिक्रमणीय भाव से स्व-प्रतिष्ठ होना ही हो सकता है—जहाँ तक कि हो सकता है। ऐसी कोई चेतना भी मेरी चेतना नहीं है, मेरे स्व का अतिक्रमण करती हुई। वह चाहे कितनी ही ऊर्ध्व, स्वतन्त्र, सामान्य हो, मेरे लिए पर ही हो सकती है, आत्म नहीं। उसका स्वातन्त्र्य, उसकी सामान्यता तो मेरी स्व-ता के बाधक ही होगी। मेरा उससे सच्चा, 'खरा' सम्बन्ध विरोध का ही बनता है। यही ऊर्ध्व, बृहत् चेतना अगर अपनी सामान्यता में समाज-चेतना का रूप लेती है और अपने किसी अनवगाह्य स्रोत से सामान्य औचित्य-बोध का उत्स बनती है, समाज के नियम उकेरती है, उनमें मुझे कसती है, तो मेरे विरोध का विद्रोह की ओर ही बढ़ना अनिवार्य है।

व्यक्ति-चेतना की कुछ ऐसी ही छटपटाहट का दंश पिछले लेख के अंत में आकुल प्रश्न के रूप में उभरा है। व्यक्ति-बोध की ऐसी ही उत्कट, अपने-में-सिमटती, अन्य-सब-

कुछ-को-नकारती आत्मपरकता आज अनजानी नहीं है। हम अपने में भी इसका अनुभव कर सकते हैं।

पर बात विचार की माँग करती है। एक बात पहले ही उभरती है। व्यक्ति की स्वप्रतिष्ठा, उसकी अनतिक्रमणीयता, जो किसी भी 'सच्चे' (आत्यन्तिक या ऐकान्तिक) व्यक्तिवाद को स्वीकार्य हो सकती है (या होनी चाहिये) वह एक आकृति ही हो सकती है, कोई स्वप्रकट तत्त्व नहीं। व्यक्तिवाद एक चाह के या आदर्श के रूप में ही उभरता दीखता है। उसे विचार से प्राक्-स्वप्रदत्त-तो नहीं ही कहा जा सकता। वह विचार से प्राक् सहज प्रकट हो तो उसके लिए आग्रह क्यों?

उत्तर में कहा जा सकता है कि इसकी संभावना प्रदत्त होती है—तात्त्विक भी होती है—तभी इसके लिए आग्रह सार्थक है। आवेग का प्रलाप भर नहीं। उसकी संभावना को, तत्त्व को, मानते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि हर आदर्श के रूप में उसे विचार ही बुनता है—एक साध्य के रूप में बुनता है : पर यह तो विचार का काम ही है कि वह तत्त्व और आदर्श को सामने लाता है, स्वप्रकट एवं विविकृत करता है।

अपनी पिछली चर्चा को ध्यान में रखें तो यहाँ एक आपत्ति खड़ी की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि विचार जिस अर्थ-लोक में, जिस प्रमाण-चेतना में जागता है वह स्वरूप से ही निर्वैयक्तिक होती है। विचार तो मनुष्य में ही जागता है, उससे प्राक् तो व्यक्ति-सत्ता समष्टि-निमज्जित ही दिखती है, और समष्टि की सत्ता अनात्मचेतन पशु-प्रवाह निमज्जित। व्यक्ति-सत्ता रूप लेती है तो आत्मचेतना का रूप लेती है, पर आत्मचेतना की आत्म-अवगति जिस व्यापार के मध्य होती है वह व्यापार आत्म से हट कर आत्मनिरीक्षण का व्यापार है जो आत्म-अवगति के साथ अर्थ-बोध का भी रूप लेता है। जब विचार उभरता और युक्तियों में बसता है तो एक सर्व-व्यक्ति-सामान्य रूप में ही अभिव्यक्त होता है। आदर्श-चेतना को विचार-चेतना का ही एक रूप या पक्ष कह सकते हैं जो कर्म-चेतना के सामान्यत्व की ओर भी इंगित करती है। यों व्यक्ति का अपना निजी स्वप्रतिष्ठ, अनतिक्रमणीय वैशिष्ट्य कुछ नहीं होता।

उत्तर में व्यक्तिवादी कह सकता है कि आदर्श-चेतना—या आत्मचेतना ही कहिये—वह व्यक्ति में उभरती है तो व्यक्ति को ही अपना लक्ष्य भी बना सकती है—उसके अपने विशिष्ट अर्थ का संधान कर सकती है। किसी भी आदर्श के लिए कोई सत्ता सिद्ध नहीं, साध्य ही ठहरती है। व्यक्ति-सत्ता को भी हम इस रूप में समझ सकते हैं। व्यक्ति का व्यक्ति-भाव, जैसाकि व्यक्ति-भाव व्यक्ति चाहता है, वह उसे उपलब्ध नहीं होता, उपलब्ध ही रहता है, पर तभी तो व्यक्ति अपने आप में एक अर्थलोक बन सकता है! व्यक्तिवाद का यही साध्य कहा जा सकता है। तत्त्व की दृष्टि से कोई भी साध्य 'है' के रूप में नहीं, 'होना चाहिए' के रूप में होता है। पूछा जा सकता है कि इसकी संभावना तो सिद्ध-रूप में किसी भाव से

होनी चाहिए! उत्तर होगा (या हो ही सकता है) कि आत्मचेतना के साथ अस्मिता का बोध आधारभूत बोध होता है। 'मैं' उभरता हूँ और अपना संसार बुनता हूँ। अस्मिता यों भी स्वतःप्रमाण सिद्ध है—अनिराकरणीय है : उसके निराकरण के भीतर भी उसका अनिराकरण बसता है : मैं अस्मद्भाव का निराकरण करूँ तो अस्मद्-भाव में रहकर ही कर सकता हूँ (जैसा कि शंकर ने, देकार्त ने, दिखाया ही है)। मेरा निराकरण मेरे होने की—अस्तित्व की—धरती पर ही हो सकता है। व्यक्ति की यही 'सिद्ध' स्वप्रतिष्ठा उसकी साध्यता को भूमि देती है। इसे साधने का व्यक्ति-स्वातंत्र्य तो व्यक्ति के कर्तृत्व-बोध में ही प्रकट है, जो उसकी आत्म-चेतन अस्मिता के साथ ही जागता है।

लोक-व्यवहार के संदर्भ में यह युक्ति एक व्यंजना का भी वहन करती है : व्यक्ति के अधिकार को आक्षिप्त-उपपन्न करती है। वह व्यक्ति को सत्ता (अस्तित्व) देती है तो यह भी प्रतिपन्न करती है कि उसे सत्ता (शक्ति, प्रभुत्व, अधिकार) दी जाये कि वह अन्य-विविक्त हो कर अपनी ही विलक्षणता साधे। मैं अगर सिद्ध रूप में स्वप्रतिष्ठ हूँ तो मुझे साध्य रूप में अनुल्लंघनीय होने का अधिकार होना चाहिए। मेरे अनन्य 'होने' का, मेरे 'स्व-भाव' का वास्तव अर्थ यही हो सकता है (और तभी होना भी चाहिये) कि मैं 'पर' से और किसी भी पर-आश्रित तन्त्र से (मुझ-बाह्य किसी भी व्यवस्था से) मुक्त हूँ।

यह ठीक है कि मैं अपने वास्तव-उपलब्ध-रूप में अपने को ऐसा पाता नहीं हूँ। पर यह दोष है, व्यवधान है, जिसे दूर करना है। काम मेरा है, पर इसके लिए भी मुझे मुक्ति मिलनी चाहिये—ताकि मैं अपनी सच्ची, खरी, विविक्त, भाव्यता साध सकूँ। मेरा 'पर'-भाव, जिससे मुक्ति काम्य है, उसके दो पक्ष देखे जा सकते हैं : एक पर-भाव वह, जिसे 'कृतक' कहा जा सकता है, जो बाह्य कार्यकारणों से बना है, और दूसरा इससे भी बढ़कर वह जो नियम-रूढ़ियों, प्रथाओं, परंपराओं में ढला है। मैं स्वतन्त्र हूँ कि इनसे हटकर अपने को साधूँ, और मुझे यह स्वतन्त्रता मिलनी भी चाहिये।

यहाँ मैंने व्यक्तिवाद को अपनी-सी युक्तियों में उभारा है। पर उसकी पुष्टि के कई रूप, कई मार्ग हैं, और हो सकते हैं।

पर व्यक्तिवाद को जैसे भी देखें, उसमें एक आत्मसाध्य 'केवली'-भाव का आशय है जो मोक्ष के श्रमण-मार्गों की याद दिला सकता है। पर इसकी दिशा बिल्कुल अलग है। दिशा प्रवृत्ति की है, निवृत्ति की नहीं। व्यक्तिवाद वासना का निराकरण नहीं करता, उसी के भीतर व्यक्ति अपने को ढूँढता है। मैं अपने स्वातंत्र्य में, अपनी आत्मचेतन मध्यस्थता में, अपनी वासनाओं को देख सकता हूँ, उन्हें चुन सकता हूँ, उनका अपनी तरह नियोजन भी कर सकता हूँ। वासना ही मेरा 'स्व' है, पर अपनी जिस इच्छा में मैं 'अपने-आप' को पाऊँ, उसे साध भी सकता हूँ। कहा जा सकता है कि यों वासना के भीतर भी चुनने, प्रवृत्ति की दिशा-विशेष लेने की बात स्व से प्रत्यक् होती आत्मचेतना के संकल्प की और

औचित्य-बोध की ही होगी। साध्य की प्रामाणिकता की माँग उठेगी। और मैं अगर अपने को अन्य सब कुछ से समेट कर स्वयं साध रहा हूँ तो प्रामाणिकता भी 'मेरी' होनी चाहिये। पर प्रामाणिकता का विशुद्ध 'मेरी' होना, इसका क्या अर्थ? पर चलिए, कहा जा सकता है कि मेरी किस वासना, इच्छा, आकांक्षा, प्रवृत्ति में 'मैं' खरा 'मैं' हूँ, इसका निर्णय किसी परतःप्रामाणिकता से हो भी कैसे सकता है? आक्षेप किया जा सकता है कि वासना, इच्छा ... इनमें किसी को 'चुनना', 'अपनाना' यह इच्छा से अलग खड़े होकर इच्छा के किसी लक्षण-तीव्रता, सघनता, हठात् झलक आना ... के आधार पर ही हो सकता है, यहाँ 'प्रामाणिकता' परतः ही कहला सकती है। (विशुद्ध व्यक्तिवादी के लिए तो यह भी समस्या हो सकती है कि जिस इच्छा को वह चुने, वह रूढ़, प्रथागत या किसी अन्य रूप में 'पर' या 'कृतक' न हो- इसकी परख के लिए तो वरण के तटस्थ भाव को और भी परतः होना होगा!)। फिर भ्रान्ति की संभावना भी रहेगी, जिसको परतः ही दूर किया जा सकता है! जैसे वरण या चयन की हम बात कर रहे हैं उसमें भ्रान्ति को दूर करने के लिए प्रामाणिकता का जो बोध चाहिये वह आत्मचेतना के ऐसे प्रत्यक्ष-भाव की माँग करता है जहाँ प्रमाणीकरण की प्रक्रिया प्रत्यक्षमुखता के ऊपर उठते सोपान पर खड़ी हो सके-आत्मद्रष्टृत्व, आत्मपरीक्षण के सोपान पर : क्योंकि भ्रान्ति प्रमाण के हर स्तर पर संभव है, जिसके लिए प्रमाण-व्यापार एक ऊर्ध्वचारी निरंतरता चाहता है।

जो भी हो, हमारा उद्देश्य यहाँ व्यक्ति की सत्ता से, महत्ता से, उसके स्वार्थ से या उसकी स्वार्थ-साधना से इनकार करना नहीं है। उसके ऐकान्तिक 'केवली'-भाव से ही हमें आपत्ति है जो अन्य को 'पर' के रूप में देखता है, अपना अवरोधक, स्व का निसर्ग शत्रु। जिस आत्मचेतना के साथ मुझमें 'स्व' बोध जागता है, उसी में पर की भी स्व-ता जागती है-यह हम देख आये हैं। यहाँ तक कि मैं परकाय-प्रवेश कर सकता हूँ (जैसे अभिनय में), पर-चित्त प्रवेश भी कर सकता हूँ (जैसे कथा कहने में)। ऊपर की बात को लें तो इस निर्णय में कि किसी की कौन सी इच्छा उसकी नितान्त अपनी है, इसमें भी मैं प्रमाण-स्थानीय हो सकता हूँ। उसकी कथा लिखूँ तो यह कहने का अधिकार रखूँगा कि उसने 'मेरी' के नाम पर जो इच्छा चुनी, वह 'उसकी' थी या नहीं, और अपनी बात के लिए उसी के व्यक्तित्व-बोध को आधार बना कर युक्ति भी दे सकता हूँ। यह युक्ति अन्यों की जाँच का भी विषय हो सकती है।

हाँ, मैं अपने कर्तृत्व की मध्यस्थता में अपना स्वार्थ (स्व-अर्थ) तय कर सकता हूँ (जितना भी कर सकता हूँ)। चुन सकता हूँ कि वासना को किस दिशा में ले चलूँ, यह परखने की ओर झुक सकता हूँ कि किस इच्छा या प्रवृत्ति में मैं सचमुच अपने खरे रूप में हूँ। इस खरेपन की खोज में खोट के अपसारण की भी चेष्टा कर सकता हूँ-समाज की रूढ़ियों से हटने की ओर मुड़ सकता हूँ।

इससे यह उभरता है कि व्यक्तिवाद के स्व की खोज एक विशुद्ध अहं की खोज होती है। पर मैं कोरा या निरा अहं होता ही नहीं हूँ। 'अहं' और 'अस्मिता' में भेद करना चाहिये, जिसे व्यक्तिवाद का 'मैं' भुला देता जान पड़ता है। अहं-पशु का अंध अहं अहं-बोध के बिना भी हो सकता है, वह जिजीविषा मात्र में ऊह्य होता है। व्यक्ति का 'मैं' अस्मिता का 'मैं' होता है जो आत्मचेतना के साथ जागता है, आत्मद्रष्टता के साथ।

पर अस्मिता के साथ स्वार्थ ही नहीं जागता, परार्थ-भाव भी अनन्तरीयक भाव से जागता है-स्वार्थ के साथ ही जाग उठता है। स्वार्थ की तरह ही 'साध्यता-बोध' के साथ जागता है। चेतना में साध्यता का बोध इतना गहरा होता है कि वह मुझे ही नहीं, चेतना को ही मानो साध्य के रूप में प्रस्तुत करता है। मैं आत्मचेतना को साक्षी बनाऊँ तो बात वहाँ आ जाती है जहाँ हम इसे फाएट्टस (फ्रीड्स) के सुकरात में पाते हैं, जिसकी चर्चा हम पिछले लेख में कर आये हैं। अपनी आत्मचेतना में हम अपनी वासना और वासना के ममत्व से ही अवगत नहीं होते; हमारा वरण, हमारी प्रेरणा, एक ऊर्ध्वतर औचित्य-बोध में, चेतना की ही स्वोन्नयन-साधना में बस जाती है जो सहज ही वासना के परे इंगित करती है।

सच पूछिये तो व्यक्ति की स्वप्रतिष्ठ अनतिक्रमणीयता की बात के, व्यक्ति के स्वार्थ-में-स्वातन्त्र्य या व्यक्तिवाद के पीछे मनुष्य और समाज विषयक जो एक दृष्टि है वह उससे प्रतीप-प्रतिलोम है जिस दृष्टि में हमारा चिन्तन-प्रतिपादन बसा है। हमारा प्रतिपादन आरम्भ से ही आत्मचेतना में बसे चेतना के ऊर्ध्वतर सोपान उभारता बढ़ रहा है। इसी क्रम में हमने नियम की बात की। यों देखा कि नियम के कई रूप ही नहीं, कई स्तर भी देखे जा सकते हैं।

हमने जिसे 'अदृष्ट के नियम' कहा है, उन्हें इस परिप्रेक्ष्य में देखना उपादेय होगा।

नियमित कार्य-कारण सम्बन्ध भी होते हैं-ये नियम सम्बन्ध को सर्वथा नियत कर देते हैं। भौतिक जड़ जगत् के व्यापारों में वस्तुओं के बीच ऐसे ही सम्बन्ध देखे जाते हैं-जड़ होने का अर्थ यही है कि कार्य-कारण-व्यापार-बद्ध है। पर बोध का जो व्यापार जड़-व्यापार को यों देखता-समझता है, वह कार्य-कारण से स्वतन्त्र होता है-प्रत्यक् होता है-नहीं तो वह व्यापार का ही अंग होगा। वह व्यापार के कार्य-कारण को देखेगा कैसे? देखना दृश्य से स्वतन्त्र, उन्मुक्त होकर ही हो सकता है। पर हमारा देखना निरा देखना ही नहीं होता, वह दृश्य को आँकता-समझता भी है, उसे अपने प्रयोजन के अनुकूल अन्यथा भी साधता है। यह समझना और अन्यथा करना दोनों के भीतर एक तीव्र, कठिन, बोध-के-ही-स्वभाव-में-निष्ठ माँग भी होती है : वह यथाकाम न देखे, यथास्थिति, यथा-वस्तु देखे, जो करे यथोचित करे। यही समझ का औचित्य-बोध है-प्रामाणिकता की माँग, बोध की सत्य-दृष्टि, जो वृथा कल्पना का निराकरण करना चाहती है। पर कल्पना तो ऊहं मात्र में होती है जो समझने के व्यापार का आधार है। कल्पना के निराकरण का अर्थ है ऊह का

अर्थ-शून्य उड़ान न भर कर—अपनी रुचि, राग, वासना से हटकर—दृश्य-संध, सत्य-संध होना। यह संधान विचार का है और इसी संधान में युक्ति-तर्क और इनके नियम उभरते हैं। ये नियम भी कसते-बाँधते ही हैं—ऊह को अनिर्बन्ध नहीं रहने देते। पर ये ऊह के अपने नियम हैं, ऊह में ही ऊह के भीतर से उभरते देखे जा सकते हैं। ऊह इन से स्वतन्त्र रहता है—किसी सत्य-संध दृष्टि की खातिर ही इनका सार्थक उल्लंघन भी कर सकता है, जानबूझकर कर सकता है, क्योंकि यह नियम को अपनी संभावना के आधार के रूप में देख सकता है—जो संभावना कि नियम से बाँधती नहीं है। स्वतोव्याघात का नियम लीजिये जो अनुल्लंघ्य माना जाता है। मैं दृश्य को 'है' कहूँ तो उसे 'नहीं है' कहना कहने की ही हानि होगी—स्वतोव्याघात (एक वचन-व्याघात) होगा, किये गये अध्यवसाय को ही निरस्त कर देना होगा। पर मैं दृश्य को देखते हुए भी 'नहीं है' कहूँ तो बात में एक गहन-विचित्र आशय हो सकता है—कि दृश्य का दिखना उसके 'होने' प्रमाण नहीं होता : दिखना और होना एक बात नहीं है। यह होने विषयक और प्रमाण-विषयक एक गूढ़ प्रश्न है (जो दर्शन में उठता ही रहा है)। देखने की—दर्शन की—इस दिशा में दृश्य को 'है भी, नहीं भी है' कह सकता हूँ और तब कोई स्वतोव्याघात न होगा : क्योंकि तात्पर्य होगा कि जो दिखता है वह आभास के रूप में है—या संकेत के रूप में है—वास्तव में नहीं है—या वास्तव की छाया या आवरण है ...। आपत्ति में कह सकते हैं कि यह तो स्वतोव्याघात को ही और गहरा कर देने की बात हुई : दृश्य की पकड़ को निरी कल्पना से हटाने के लिए युक्ति-तर्क का सहारा लिया जाता है, पर दृश्य को 'है भी, नहीं भी है' कह देना तो उसे उल्टे फिर कल्पना के पेट में ला रखता है—ऐसी कल्पना जो अनर्थक प्रलाप जैसी है। पर सच पूछें तो बात अब ऊह-कल्पना को ही एक गंभीरतर अर्थ देती दिख सकती है, उसमें 'है' की—सत् की—रहस्यात्मकता का बोध भी व्यंजित हो जाता है। बात हमें अब दृश्य के चिर-परिचय-अंध देखने के न-देखने से हटाकर सचमुच दृश्य के प्रति तटस्थ-जागरूक और प्राश्निक भाव दे सकती है।

'है भी, नहीं भी है' के विरोध के नियम को स्ववचनव्याघात का नियम कहते हुए इसे भाषा का नियम भी कह सकते हैं। भाषा वचन करती है, स्ववचन-विरोध वचन को अवचन कर देता है, उसे निरस्त कर देता है। भाषा के अर्थ-व्यापार को परास्त कर देता है। यों स्ववचनविरोध को भाषा के अर्थ-व्यापार से जुड़ा एक आधारभूत नियम भी कह सकते हैं—वचन का निरास भाषा की अर्थाभिव्यक्ति का ही निरास होगा। इस नियम को भाषा के व्याकरण के साथ भी जोड़ा जा सकता है, जहाँ अर्थ-व्यापार को शब्द-व्यापार से संश्लिष्ट देखा जा सकता है। शब्द-व्यापार वाक्य का रूप लेता है जहाँ शब्द-रूपों के और शब्द-संसर्ग के नियम देखे जा सकते हैं : कैसा शब्द किस शब्द के साथ जा सकता है, कैसे, किस क्रम से ? भिन्न भाषाओं में ये नियम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं : पर व्याक्रिया द्वारा इस भेद को उभारा जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि किसी भी भाषा के नियम उसके रूप को और रूप के साथ अर्थव्यापार को वैसे ही बाँधते हैं जैसे जड़-जगत् के नियम

उस जगत् को। इससे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि भाषा के ये व्याकरण-गत-नियम भाषा को रचते हैं, वैसे ही जैसे जड़-जगत् के नियम जड़-जगत् को। व्याकरण के बिना ये वैसे ही 'अदृष्ट' भी रहते हैं—भाषा-निमज्जित रहते हैं—जैसे विज्ञान के बिना जड़ जगत् के नियम वस्तु-व्यापार-निमज्जित रहते हैं। पर भाषा को अर्थ से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। जड़-जगत् को 'जड़' कहने में ही हम उसे अर्थ से विच्छिन्न कर देते हैं। जड़-जगत् के नियम जड़-जगत् में ही अपचेय हैं, उसके जड़त्व से अभिन्न हैं। भाषा के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अर्थ भाषा का—भाषा के नियमों का—अतिक्रमण करता है : भिन्न भाषाओं के शब्द-रूप, संसर्ग-नियम नितांत भिन्न होते हैं, पर उनमें अनुवाद संभव है। कहने को कहा जा सकता है कि भाषा को भी वर्ण (या लिपि) के स्तर पर जड़ या जड़-निमज्जित कहा जा सकता है। वर्ण बिना शब्द बन ही नहीं सकते। पर वर्ण का शब्द बनना भी अर्थ-व्यापार ही है—रहस्यमय अर्थ-व्यापार। अदृष्ट-मूल भी है यह व्यापार। इसे किसी कार्य-कारण से नहीं जोड़ा जा सकता। तभी हमने भाषा को 'अपूर्व-विधि' कहा। यह अर्थ की विधि है जो आत्मचेतना से सम्बन्ध रखती है। वर्ण के नियमों की ओर ध्यान दें तो भी हम पाते हैं कि वर्ण-संसर्ग के नियम शब्द-संसर्गों के नियमों से भिन्न होते हैं, जैसे स्वर-व्यंजन सम्बन्ध के, संधि के नियम। ये नियम उच्चारण से जुड़ते हैं, अर्थ से नहीं, जबकि शब्द-संसर्ग अर्थ को ऊँह रखता है।

यों हम यहाँ भाषा में, नियमों में, एक प्रकार-भेद के साथ भूमि-भेद भी कर सकते हैं—जड़ से (वर्ण से) ऊपर उठता, चेतना को समोता, एक सोपान देख सकते हैं। पर चेतना में स्थित होकर हम उतने ही सार्थक भाव से 'ऊपर उठने' की नहीं, 'अवतरण' की बात कर सकते हैं—चेतना का जड़ में अवतरण, जड़ को अपने में समो लेना। यह कार्य-कारण-व्यापार नहीं है तो जड़-व्यापार भी नहीं है। देश-काल व्यापार भी नहीं है। जड़ में—देशकाल में—घटित होता है।

हमने खेल के नियमों की भी चर्चा की थी। खेल के नियमों का हमारी चेतना से सम्बन्ध स्फुट होता है। खेल के नियम स्वेच्छया बनते-बिगड़ते-बदलते देखे जा सकते हैं। ये कहीं और 'निमज्जित' या 'अदृष्ट' नहीं रहते—अपने आप में पारदर्शी होते हैं, हमारी प्रवृत्ति के भीतर से उभरते देखे जा सकते हैं। हमने कहा था कि ये नियम खेल को संभव भी बनाते हैं—नियमों के बिना क्रीड़ा-प्रवृत्ति 'रूप' नहीं ले सकती। खेल के संदर्भ में नियम की यह संभावना को रूप देती प्रक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है। भाषा में (या जड़ में) अदृष्ट रहती है। भाषा के नियम खेल के नियमों की तरह स्वेच्छा-तन्त्र नहीं होते, अपने आप में स्व-तन्त्र, भाषातन्त्र होते हैं। वे हमें प्रदत्त होते हैं, हम उन्हें नहीं बनाते। या यों कहिये कि वे हमें बनाते हैं, हम उन्हें नहीं बनाते, जैसे खेल के नियमों को। ये भाषा-आयत्त होते हैं, वैसे ही जैसे जड़ के नियम जड़-आयत्त होते हैं। भाषा को जड़-आयत्त तो नहीं कहा जा सकता पर उसका एक अपना सत्य भी उभरता है, जिसका एक ओर जड़ से सम्बन्ध है और दूसरी

और आत्मचेतना से। इसलिए कई विचारक जो जड़ की ओर झुकते हैं, और चेतना या आत्मचेतना को नहीं मानना चाहते, वे भाषा को आत्मचेतना का पर्याय कह देते हैं। उनका अभिप्राय भाषा के साथ आत्मचेतना को भी जड़-भुक्त करना है : दृष्टि यह कि जड़ के सिवा जड़-भिन्न जान पड़ता सब कुछ जड़ का ही 'जटिल' रूप है। भाषा और भाषा-भुक्त आत्मचेतना इन्हीं में है, यह जड़ का जटिलतर रूप है, जिसमें आत्म-पर्यालोचन का भी गुण है, जिससे विचार संभव होता है।

पर हम देख सकते हैं कि बात चलती भाषा और विचार से ही है। जड़-दृष्टि भाषानिष्ठ विचार-दृष्टि ही है। विचार के बिना 'जटिल' का अर्थ क्या? 'जड़' का ही अर्थ क्या? अपने आप में जो है सो है, या नहीं है, या उसके बारे में क्या कहें? है भी, नहीं भी है, या 'न है, न नहीं है'? आधारगत कथन इन्हीं चार कोटियों में आता लगता है, पर कोई 'चतुष्कोटि-बाहर' की भी बात कर सकता है। पर हम जगत् के और अपने स्वरूप का लक्षण करें तो बात भाषा या विचार के बाहर से नहीं भीतर से ही चलती है।

पर आत्मचेतना को बहुत दूर तक भाषा-भुक्त देखा ही जा सकता है। भाषा में ही हम विचार करते हैं, भाषा में ही भाषा का व्याकरण बनाते हैं, भाषा पर ही चिन्तन करते हैं। यह प्रक्रिया भाषा में स्वभाव-स्थित है—भाषा मानो अपने प्रति 'अवगत' होकर प्रस्तुत होती है—तभी व्याकरण संभव होता है। हम अपनी ही 'अवगति' की बात करें तो पाते हैं कि हमारी आत्मचेतना हमें भाषा में ही रूप लेती दिखती है—हालांकि, जैसा हम देख चुके हैं, इसके और भी माध्यम होते हैं, जो साहित्य-भिन्न कलाओं में उभरते हैं। पर चेतना के बिना भाषा को अपने आप में आत्मचेतन कहने का अर्थ क्या? ठीक समझ में नहीं आता। क्या भाषा को अपने आप में एक ऐसा सत्त्व कहा जा रहा है जो आत्मचेतन हो? वैसे ही जैसे मनुष्य-व्यक्ति को? यह ठीक है कि भाषा का मनुष्य-व्यक्तियों से सम्बन्ध है और इनमें ऐसा अविनाभाव-सम्बन्ध भी कहा जा सकता है कि भाषा के बिना 'मनुष्य-व्यक्ति' की बात अन-बनी ही रहे। पर किसी एक मनुष्य-व्यक्ति में भी भाषा एक नहीं अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा करती है—व्यक्ति-व्यूह में, व्यक्ति-समाज में बसती है भाषा, व्यक्तियों के परे विगत व्यक्तियों की—परंपरा की भी—अपेक्षा करती है भाषा। बल्कि व्यक्ति किसी व्यक्ति-समाज और उसकी परम्परा में संस्कृत न हो तो भाषा-भाषी भी नहीं होगा। भाषा अगर आत्मचेतना है तो व्यक्ति की नहीं, समाज की ही हो सकती है। तब, आत्मचेतना का आत्मपर्यालोचनी 'आत्म' व्यक्ति नहीं हो सकता, उसे व्यक्ति-व्यूह-परंपरा में देखना होगा। भाषा का अपना होना ही यहाँ देश-काल-पात्र से अतिक्रान्त होता दिखता है। पर भाषा आत्मपर्यालोचनी तो व्यक्ति में ही होती है जो आत्मचेतन होता है। हाँ, वह आत्मचेतन भाषा के माध्यम से ही होता है, पर भाषा को अपने आप में आत्मचेतन कहने का अर्थ नहीं बनता। व्यक्ति की आत्मचेतना अपने प्रति अवगत रहती हुई—चाहे अनिवार्यतः भाषा के माध्यम से ही सही—अपनी अस्मिता के प्रति भी चेतन होती है, तभी व्यक्ति की होती है।

अस्मिता की ऐसी अवगति के बिना भाषा को आत्म-चेतन कहने का क्या अर्थ? उसे व्यक्ति में आत्मचेतना का अतिवैयक्तिक, मनुष्य-जातिगत माध्यम ही कहा जा सकता है। उसे ही आत्मचेतन कह देना एक कहने की बात ही हो सकती है—तत्त्व-दर्शन का एक आग्रह जो चेतना को अतत्त्व ठहराना चाहता है।

मुझे एक मोटी-सी बात और सूझती है यहाँ। हम जब किसी लुप्त भाषा की लिपि देखते हैं और उसे यादृच्छिक सा कीचमचोवा (घुणाक्षर) नहीं कह कर 'लिपि' कहते हैं, तो एक विचित्र सत्त्व का सामना करते हैं : एक भाषा का होना हमारे सामने होता है। इस भाषा को हम किसी व्यक्ति से नहीं, किसी सभ्यता-संस्कृति से जोड़ते हैं। भाषा से परिचय हो सके तो वह भी एक सभ्यता-संस्कृति से परिचय होता है। भाषा की व्यक्ति-ऊर्ध्वता प्रकट रहती है। किसी व्यक्ति से परिचय हो तो सभ्यता-संस्कृति के भीतर होता है। उस भाषा के प्रति हम अधिक चेतन हों तो उसके नियम सामने आते हैं, उसे अपने प्रयोग में गहरा उतारें तो उस 'लुप्त' भाषा में हम सोचने भी लग सकते हैं—किसी भी भाषा की तरह एक भाषा होगी वह हमारे लिए। नियम अब बंधन नहीं लगेंगे, खुल जायेंगे। पर उस 'नई' भाषा में सोचने लगे तो सोचने की दो धाराओं का अनुभव अपनी एक ही चेतना में कर सकते हैं हम। भिन्न भाषाओं में विचार एक ओर भाषानिष्ठ प्रत्ययों की दिशा लेता है, पर दूसरी ओर हम एक ही विचार को—'अपने' विचार को—दोनों में सोचें तो विचार को सजग, सचेतन, पर दोनों भाषाओं से ऊपर, पाते हैं। वही विचार भिन्न भाषाओं में अपने को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा का हम अपने आप को द्रष्टा और कर्त्ता दोनों पाते हैं। भाषा का नियम पीछे रह जाता है, विचार की अपनी सत्ता बनती है और स्वतोविरोध जैसे नियम आगे आ सकते हैं जो किसी भाषा-विशेष से सम्बन्ध नहीं रखते। नियमों से जैसे-जैसे उठते हैं, हम अपने को और अधिक चेतन पाते हैं। अधिक आत्मचेतन भी पाते हैं। आत्मचेतना की मध्यस्थता में ही होता है यह व्यापार। उसमें हम यह भी पाते हैं कि यह चेतना का अपना व्यापार भी है। भाषा के वैखरी, मध्यमा, परा, पश्यन्ती, जो स्तर बनाये गये हैं, उनके पीछे कुछ ऐसा ही बोध है। भाषा के ये स्तर चेतना के ही स्तर हैं। पर ये जागते आत्मचेतना में हैं—केन्द्र व्यक्ति को करते हैं।

यों भी सोचिये : भाषा ही अगर आत्मचेतना है तो भाषा के नियम और विचार के नियम में भेद ही नहीं होना चाहिए। स्वतोविरोध जैसा कुछ या तो होना ही नहीं चाहिए, या हो भी जाये तो उसके माध्यम से किसी गूढ़तर विचार के व्यंजित होने की बात तो असंभव ही रहनी चाहिये।

भाषा और विचार जागते आत्मचेतना में ही हैं, और आत्मचेतन व्यक्ति होता है। इनके नियम भी आत्मचेतना में और यों व्यक्ति में जागते हैं। पर ये नियम व्यक्ति के नहीं होते। इस अर्थ में ये खेल के नियमों से भिन्न हैं जो स्वेच्छाकृत हो सकते हैं। पर हमने अभी

देखा कि चेतना का स्वातन्त्र्य-नियम-ऊर्ध्वता-खेल में ही नहीं, भाषा और विचार में भी देखी जा सकती है।

यहाँ व्यक्ति के ही दो आयाम उभरते दिखते हैं : एक स्वेच्छा-स्वार्थ का, जहाँ अन्य न केवल मेरा अवरोधक ही नहीं होता बल्कि मेरी स्वार्थ-सिद्धि में उपादेय होता है, और तब मैं अपने ही स्वार्थ के लिए उसके भी स्वार्थ को ध्यान में रखना हितकर समझ सकता हूँ। हमने देखा था कि फाएदुस में प्रेम की बात यहीं से चलती है। सुकरात ने प्रेम को स्वार्थग्रस्त या परस्पर-स्वार्थ में 'व्यवहार्य' एक समझौते की तरह 'सयाना' देखा तो उनकी चेतना ने विद्रोह किया। प्रेम के परमार्थ ने सुकरात को कचोटा। प्रेम मुझे अपने से परे ही नहीं, अपने से ऊपर ले जाता है। वह मेरा नहीं होता, पर मुझमें होता है। मैं वहाँ अपने को पर-प्रतिष्ठ पाता हूँ। बात इच्छा या कामना की नहीं है। कामना में मैं अपने को पर-साकांक्ष पाता हूँ, पर-प्रतिष्ठ नहीं, बल्कि अपने स्व में अपने को और उलझा-फँसा पाता हूँ। प्रेम में चेतना के प्रत्यक्-भाव की सहज गति है—जैसी सुकरात ने उसमें देखी थी। तभी भक्ति का द्वार खुल सकता है प्रेम में, और वह आत्म की—मेरी ही—भूमा का भी द्वार होता है। मेरी अपनी ही चेतना का विस्फार, जो मेरे संकीर्ण अहं-धिरे मैं को विस्तार देता है। प्रेम में आत्म-पर का भेद भी एक स्फोट के साथ मिटता दिखता है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो मैं वहाँ अपने को अन्य-सामान्य पाता हूँ। अन्य-मात्र वहाँ एक घनिष्ठ अपनेपन में बसता दिख सकता है—अन्य मेरा साधक होता है, अवरोधक, बाधक नहीं। मैं अपने को व्यावृत्त-विविक्त नहीं पाता, जैसा स्वार्थ में।

आत्मचेतना के जिस विस्फार की बात कर रहा हूँ—कला, विज्ञान, विचार—ये भी वहीं घर करते हैं। ये भाषा-चेतना की धरती पर बनते हैं जो मैं—पर की सामान्यता को स्वभाव से ही ऊँह रखती है।

भाषा के विचार के (और दूसरे अर्थ-लोकों के) नियम भी इसी चेतना के साथ उभरते हैं। ये नियम भाषा-विचार को 'घर' देते हैं, उन्हें संभव करते हैं। भाषा और विचार का अपना औचित्य-बोध-विस्फार नियमों में अपचित नहीं हो पाता, नियम-सार नहीं होता, जैसाकि जड़-जगत् होता है। तभी जड़-जगत् के साथ अर्थ की बात स्वतो-विरोध जैसी है—सर्वथा असमंजस। हम वहाँ अर्थ देखें तो फिर जड़ जड़ नहीं रहता। पर जहाँ अर्थ है वहाँ नियम भी नियम (अपने क्षेत्र को सीमित करता, सर्वथा कस देता, बंधन) नहीं रहता। भाषा के नियम अर्थ की ही खातिर तोड़े जा सकते हैं—कवि ऐसा करते ही हैं। विचार के स्तर पर तो भाषा-चेतना ही गौण हो जाती है—एक ऐसा माध्यम बन जाती है जैसे साँस के लिए हवा, विचार-व्यापार जिसकी उपेक्षा-सी करते हुए अंगन में स्थित होता है। विचार अपने और दूसरे नियमों के प्रति सबसे अधिक चेतन होता है, पर विचार विचार ही के औचित्य की खातिर नियमों से ऊपर उठ जा सकता है।

नियम से उठना नियम से प्रत्यक् होना होता है। जहाँ नियम को बंधन नहीं संभावना के रूप में देखा जा सकता है। जैसे खेल में। पर भाषा और विचार में यह इच्छा की बात नहीं होती। एक और ऊर्ध्वतर औचित्य और संधान की बात होती है जो बात व्यक्ति की नहीं होती। पर घर व्यक्ति में ही करती है। नियम के ये सोपान व्यक्ति की आत्मचेतना में ही उभरते हैं, ये व्यक्ति की अस्मिता को—स्व को—केन्द्र बनाते हैं, पर 'स्वैर' नहीं होते हैं। पर ये व्यक्ति को व्यक्ति-ऊर्ध्व विस्तार देते हैं। व्यक्ति को अन्य-सामान्य की धरती पर रखते हुए भी—रखते हुए ही—उसे अर्थ-संभावना की व्यापकता देते हैं। इनका बंधन निर्बंध के अन्तरिक्ष का द्वार भी होता है। इस अर्थ में इन्हें नियम न कह कर विधि भी कह सकते हैं। या चेतना का ही अपने उत्तरायण के लिए उभरता उपाय-कौशल।

मनुष्य में आचरण के नियम उसके कर्मक्षेत्र में सहज ही, उसके मनुष्य होने के साथ ही, उभरते हैं—उसकी मनुष्यता में ही मानो निविष्ट होते हैं। भाषा की तरह ही उसकी आत्मचेतना के सहज भी तभी होते हैं। भाषा को मैंने पिछली चर्चाओं में अपूर्व-विधि कह कर अभिहित किया था, यह जताने के लिए कि भाषा जड़-जगत्-और जीव-जगत् के भी-कार्य-कारण प्रवाह से अलग, अछूती, मनुष्य में चेतना की एक नई आत्मसृष्टि, नई आत्मचेतना, के साथ 'अवतरित' होती है। कह सकते हैं कि देश-काल, कार्य-कारण के जगत् से बाहर चेतना (या चित्) तत्त्व को जगत् में एक अभूतपूर्व संभावना का रूप देती भाषा एक अभूतपूर्व विधि है जो जगत्-प्रेक्षकत्व को जगत् में घर देती है। यों आत्मचेतना के साथ चेतना अपने स्वातन्त्र्य के लिए स्थान बनाती है। या कहें चेतना एक नये स्फोट, नये (अपूर्व) आयाम के साथ आत्मचेतना के रूप में व्यक्त हुई और उसने जड़-जगत् के नियम से भिन्न भाषा और भाषा के नियम को जगत् में अपनी संभावना का उपाय (विधि) बनाया।

आत्मचेतना के प्राकट्य को समझने के लिए हम तत्त्व-चिन्तन के विभिन्न पंथ अपना सकते हैं। पर मूल बात यह है कि हम आरंभ आत्मचेतना से ही करते हैं, उसे अपूर्व भी पाते हैं और स्वतंत्र भी—भाषा के साथ उसका अविनाभाव भी पाते हैं। भाषा में, और उससे भी ऊपर विचार-चेतना में, एक ऊर्ध्वमुखी प्रत्यक्-भाव भी पाते हैं जहाँ विचार के विविध पंथों की संभावना उभरती है और उनकी आलोच्यता के साथ उभरती है। मैं तो समझता हूँ कि आत्मचेतना के होने का अगर संदर्भ बनाना चाहें तो इन बातों को ध्यान में रखकर ही बात सार्थक हो सकती है।

आत्मचेतना से संश्लिष्ट नियम हमें भाषा-या विचार-में ही नहीं मनुष्य के आचरण में, उसके कर्म में भी मिलते हैं। हम अपने आप को नियमों के भीतर, नियमों से घिरे, उन्हें पालते-तोड़ते पाते हैं। ऐसे नियमों को भी पिछले लेख में मैंने आत्मचेतना की अपूर्वता के साथ जोड़ते हुए उन्हें भी भाषा की तरह 'अपूर्व विधि' कहा था। इसे मैंने कर्म के औचित्य-बोध के साथ जोड़ा था। धर्म को रिलिजन (मज़हब) के संदर्भ में देखते हुए उसे मनुष्य के

उस 'अदृष्ट' बोध के साथ जोड़ा था जो मनुष्य में सहज लोकोत्तर-उन्मुखता का रूप लेता है। मनुष्य अनायास ही-स्वभाव से ही-अपनी चेतना के भीतर से ही दृष्ट जगत् के साथ ही जगत् से परे, अदृष्ट की ओर अपने को खिंचा पाता है। इस आकर्षण को मैंने चेतना के उस प्रत्यक्-भाव के साथ जोड़ा था जहाँ वह आत्मद्रष्टा और जगत्-द्रष्टा ही नहीं आत्मनियोक्ता और जगत्-नियोक्ता भी होती है। एक विचित्र सी अपूर्वता होती है मनुष्य के कर्म (धर्म) बोध में : वह जगत्-प्रवाह से हट ही नहीं जाती, प्रवाह से उलटी धारा बहाती दिखाई देती है, जीव के सहज 'जीवो जीवस्य भोजनम्' से उसकी अहिंसा की-जीवैक्य की-ओर मुड़ती है। प्राण की नश्वरता को, उसके दृष्ट, सहज, यादृच्छिक विमर्श की संभावना को-भी एक अनहोनेपन के साथ नकारती हुई प्राण में ही एक अलौकिक अपर-प्रज्ञा का निबिड़ संकेत देखती है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के बोध का बीज यही है। पर यह बोध मनुष्य के प्रति ही स्फुटतर रूप लेता है। आत्मवत् बोध वहीं घनिष्ठ होता है। पर मनुष्य में बोध की ऐसी उदात्तता एक संभावना ही होती है। पर एक ऐसी संभावना जो उसकी मनुष्यता में ही निहित होती हुई भी प्रकट भी संभावना के रूप में ही होती है। व्यवहार के नियमों में यही संभावना प्रकट होती है।

इस संभावना का आधार मनुष्य का स्वातन्त्र्य ही हो सकता है जो जड़ जगत् के कार्यकारण प्रवाह से, जीव-जगत् की अंध जिजीविषा से उठ सकने की शक्ति का द्योतक है। यह स्वातन्त्र्य एक दोहरापन लिए प्रतीत होता है जो विषम लगता है। इसका मूल मनुष्य की जातीय चेतना में जड़ करता है पर इसका कर्तव्य व्यक्ति में होता है। मनुष्य में व्यक्ति-समष्टि विरोध का यह भी एक बीज है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वतन्त्र व्यक्ति ही होता है, समष्टि कार्य-कारण या ऐसे ही किसी परतन्त्र गतानुगतिक प्रवाह का अंग होती है। आत्मचेतना किसी विशेष मनुष्य-व्यक्ति में नहीं, व्यक्तिमात्र में उभरती है। स्पष्ट ही उसकी संभावना मनुष्य-समष्टि में है-मनुष्यता में है। भाषा इसी का चिह्न है।

आचार-व्यवहार के नियम भी इसी के प्रतीक हैं। मनुष्य का व्यवहार-लोक अपने स्वभाव में ही, आद्यरूपेण एक नियम-लोक होता है। यों मैं अपने लिए भी नियम बना सकता हूँ-किसी प्रण, व्रत, चर्या ... का मार्ग अपना सकता हूँ-पर यह नियम की उपस्थिति को, आदर्श को, साध्यता को, ऊँछ रखता है जो मुझे समष्टि-व्यवहार के उपलब्ध परिवेश से मिलती है। मेरा अपना नियम वैसा ही होता है जैसा कि मेरी अपनी भाषा। व्यक्ति का प्रयोग, उसकी शैली, यहाँ तक कि उसका भाषा को ही नई संभावना की ओर बढ़ा देना, यह सब भाषा के उस परिवेश की धरती पर होता है जो व्यक्ति नहीं बनाता, जो समष्टि का परिवेश होता है। इसीलिए हर भाषा-समाज का अपना चरित-चरित्र भी होता है। हम अकसर भूल जाते हैं कि वैशिष्ट्य व्यक्ति का ही नहीं व्यक्ति-समुदायों का, व्यक्ति-समूहों का भी होता है, इसलिए परंपराओं का भी होता है। परंपराओं की अपनी भंगी होती है। परंपराओं की भंगी ही नहीं, उनकी दृष्टि, प्रवृत्ति, ये देशकाल से परे रह कर व्यक्ति-व्यूहों

में घर करते हैं। उनके अपने 'व्यक्तित्व' की बात की जा सकती है जो व्यक्ति का अतिक्रमण करता हुआ भी घर व्यक्ति में ही करता है—व्यक्ति के माध्यम से ही बना रहता है, पनपता-खिलता है। परंपरा का अंत भी व्यक्तियों में ही होता है, जिनकी सन्तति चलती रहती है। पर परंपरा का व्यक्तियों की संतति विशेष में अंत हो भी जाये तो भी परंपरा व्यक्तियों की तरह 'मरती' नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति बची रहे—भाषा में और अन्य निर्मितियों में—तो उसका व्यक्तित्व नई सन्तति में जीवित, सृजनशील हो जा सकता है (ग्रीक परंपराओं का योरोप के पुनरुत्थान काल में 'जी उठने' का दृष्टांत प्रसिद्ध ही है)। संस्कृति की धारा का यही बीज है जो उसके 'होने' का व्यक्ति-ऊर्ध्व धारण करता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व भी उसकी अहं-ऊर्ध्व चेतना के कारण ही संभव होता है।

आचरण-व्यवहार के नियम भी परंपरा में बसते हैं, व्यक्ति-ऊर्ध्व, समष्टि-निष्ठ होते हुए भी व्यक्ति के कर्तृत्व को नियमित करते हैं। पर ये कर्तृत्व की ऊर्ध्वतर संभावना के बीज भी होते हैं। तभी इन नियमों को अपूर्व विधि कहने का औचित्य है : ये पशु-लोक के प्रवाह से मनुष्य को अलग करते हुए मनुष्य के कर्म को औचित्य-बोध-धर्म—की धरती देते हैं। अभीप्सा-निष्ठ प्रवृत्ति-साफल्य की परतन्त्र जिजीविषा से उठा कर संकल्प के स्वातन्त्र्य में स्थित करते हैं।

पशु में संकल्प की बात नहीं की जा सकती। संकल्प अभीप्सा या इच्छा मात्र की प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर ही उभरता है। तभी इसका सम्बन्ध स्वातन्त्र्य की आत्मनियोजकता से है। आत्मचेतन कर्तृत्व से व्यक्ति में जो जागता है, उसे 'व्यक्ति' बनाता है। पर आचरण-व्यवहार के नियम मनुष्य की जाति-चेतना में जागते हैं। ये संकल्प को पूर्वकल्पित करते हैं तो इच्छा को नियन्त्रित भी करते हैं। तभी कर्म में व्यक्ति और समष्टि का द्वंद्व उठता है। आचरण-व्यवहार के नियमों में और भाषा के नियमों में एक गहरा भेद है। भाषा के नियम भी व्यक्ति के नहीं, समष्टि के, समष्टि की परंपरा के होते हैं, पर ये अनायास ही संस्कारगत हो जाते हैं, बाधक नहीं लगते, साधक ही लगते हैं। पर आचरण के नियम अभ्यस्त जीव-प्रवृत्ति और जिजीविषा के प्रवाह में उतरकर उस प्रवाह को ही नई दिशा देना चाहते हैं। उनका अवरोधक लगना स्वाभाविक है।

पशु-प्रवृत्ति में काम और अर्थ की बात हम कर आये हैं। मनुष्य में नियम के साथ धर्म आ जुड़ता है। काम और अर्थ, व्यक्तिगत अभीप्सा और समष्टिगत व्यवस्था, अब एक प्रवृत्ति-व्यापक औचित्य-बोध के साथ जुड़ जाते हैं : धर्म से अनुविद्ध हो जाते हैं। तभी मनुष्य को धर्म से परिभाषित किया जा सकता है, जैसा मनु ने किया है : आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च समानमेतत् पशुभिः नराणां / धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ (आहार, निद्रा, भय और मैथुन, पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। मनुष्यों में जो पशुओं से अधिक विशेषता है, वह धर्म है, मनुष्य धर्म से हीन हों तो पशु के समान ही होते हैं)। व्यवहार के स्तर पर धर्म मनुष्य में नियम का रूप लेता है।

धर्म और नीति

नियम-पालन व्यक्ति करता है। अभिप्रेत होता है कि वह अभीप्सा से उठकर संकल्प के साथ ऐसा करे। पर अभीप्सा ही नहीं इच्छा-मुक्त औचित्य-बोध में बसा संकल्प भी नियमों में अपने को अवरुद्ध पा सकता है। व्यक्ति और समष्टि का द्वंद्व, इच्छा-रोध और संकल्प-रोध, दोनों दिशाओं में गहराता है। व्यक्ति का आत्मचेतन व्यक्ति-बोध जितना जागरूक होता है, द्वंद्व की अनी उतनी ही पैनी हो जा सकती है।

नियम के साथ समष्टि में एक दण्ड-व्यवस्था भी उभरती है जो कई स्तरों पर काम करती है, जटिल-गुत्थिल होती है और व्यक्ति के चित्त और शरीर पर कई तरह से हावी होती है। मनु ने प्राण और चित्त की प्रवृत्तियों में भय को चुन कर उसे मनुष्य और पशु में समान कहा है। भय मृत्यु-भय होता है। मनुष्य का संकल्प-कर्म का औचित्य-बोध अपनी प्रेरणा में मृत्यु से ऊपर उठता है, स्वभाव से निर्भय होता है। हम कह आये हैं कि उसमें प्राण को ही मृत्यु-तीर्ण मानने की प्रेरणा है। पर भय मनुष्य में पशु से अधिक गहरा, अधिक व्यापक भी होता है, क्योंकि मनुष्य की चेतना ही अधिक व्यापक होती है। नियम-व्यवस्था भय को ही व्यक्ति-नियन्त्रण का माध्यम बनाती है। वह व्यक्ति को भीतर-बाहर हर तरह से तोड़ डालने में समर्थ होती है। उन्मुख भी होती है। व्यवहार में नियम रूढ़, गतानुगतिक होते हैं, आधिदैविक, अधि-दैहिक, अधि-मानसिक, कई गडारों में, रेवड़-चालों में व्यक्ति को हाँकते हैं, कई प्रकार के दण्ड का आतंक उसके सर-ऊपर झुलाते हैं। नियम-व्यापार संकल्प और धर्म का द्वार नहीं, एक अंध परंपरा और उसके प्रभुत्व की विभीषिका के रूप में उभरता दिख सकता है। इसमें किसी ऊर्ध्व चेतना का तो क्या, चेतना के ही प्रकाश का अभाव प्रतीत हो सकता है। नियम को हमने अदृष्ट के साथ जोड़ा है, पर नियम का सम्बन्ध तो किसी न किसी निर्धारित अदृष्ट, मज़हब के साथ अक्सर होता ही है। अलौकिक परंपरा की दुहाई देते रिलिजन मज़हब-या श्रुति-स्मृति-से जुड़ कर नियम की अकारण अवरोध शक्ति और बढ़ा देते हैं, युक्ति-तर्क से परे जाकर पशु-प्रवाह के अंध-बंधन से भी मानो और अपरिहार्य और अनुल्लंघ्य हो जाते हैं। ये व्यक्ति को आत्मचेतन व्यक्तिरूपेण निश्चेष्ट कर देना चाहते हैं। यों धर्म की नियम-व्यवस्था पशु की जिजीविषा के सहज-प्रवाह से बदतर भी जान पड़ सकती है-क्योंकि वह संकल्प को जगा कर उसका दमन करती है।

पर नियम को नियमन-सार नहीं समझना चाहिये। हालांकि वे ऐसा रूप भी लेते हैं। पर तब वे धर्म नहीं रहते, नीति हो जाते हैं। धर्म की प्रेरणा अर्थ और काम को ही-व्यवहार लोक को ही-एक उदात्तर अर्थ-लोक का रूप देने की है। धर्म मनुष्य-जाति में-समष्टि में-व्यक्ति को उभारता हुआ उभरता है तो उसकी उपेयता में स्वतन्त्र व्यक्तियों का परस्पर-भाव, परस्पर-भावन गुँथा जान पड़ता है। हमारी औचित्य-कल्पना में धर्म का यह रूप जागता भी है। मनुष्य-मात्र में जागता है। हमारे यहाँ तो व्यक्तियों के संकल्प में जागते परस्पर-भावन के स्तर से ही धर्म की पूर्णता-अपूर्णता नापने की कल्पना है। सत् युग में जब धर्म पूर्ण होता है, नियम-नीति की आवश्यकता ही नहीं होती, व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ

अनायास एक-दूसरे का श्रेय-भावन करते हैं। इस परस्पर-भाव की क्षीणता ही धर्म की क्षीणता है जो दण्ड और नीति को आवश्यक बनाती है।

पर नीति और दण्ड यहाँ भी धर्म की क्षीण अवस्था में भी धर्म के परस्पर-भाव को ऊँचा रखते हैं। धर्म की सभी परम्पराओं में ऐसे धर्म-आधारभूत नियम-होते हैं जिन्हें धर्मशास्त्र की परम्परा ने 'साधारण धर्म' का नाम दिया है। अहिंसा से आरंभ कर ये सत्य, अस्तेय, दया, दान ... का विधान करते हैं। ये 'साधारण' इसलिए हैं क्योंकि मनुष्य-मात्र के लिए हैं। स्पष्ट ही इनका उत्स मनुष्य की अन्य-सामान्य चेतना में है। साधारण-धर्म का विधान व्यक्ति के लिए है—यहाँ व्यक्ति को स्वतन्त्र कर्ता मानते हुए उसे अन्य व्यक्तियों के साथ (बल्कि जीव-मात्र के साथ) परस्पर-भाव में अनुस्यूत माना गया है। हम यह भी देख सकते हैं कि साधारण-धर्मों में नियम शील की ओर मुड़ते हैं जहाँ नियम का पालन आचरण के बहिरंग से नहीं चेतना के अंतरंग से ही हो सकता है। ये नियम के प्रत्यक्-भाव के प्रतीक हैं, मनुष्य के व्यवहार-लोक को ही धर्म का अर्थ-लोक बनाने की ओर उन्मुख। धर्म के आदर्श सत् की ओर उन्मुख, जो सत्-युग की कल्पना का आधार है।

इसके विपरीत व्यक्तिवादी दृष्टि समष्टिगत नियमन को एक विशुद्ध नीतिगत आधार देना चाहती है। वह व्यक्ति को व्यक्ति के स्वार्थ में देखती हुई मज़हब, रिलिजन का ही नहीं, किसी 'अदृष्ट' का, किसी ऊर्ध्वतर चेतना का भी निराकरण करती है। व्यक्ति को समाज से प्राक् मानती हुई वह समाज को व्यक्तियों का स्वेच्छया गुंफित संगठन बताती है, जो संगठन कि व्यक्ति और उसके स्व-अर्थ को केन्द्र में रख कर व्यक्तियों के बीच गठा गया है। यह स्वेच्छा-कृत संगठन, स्वतन्त्र व्यक्तियों के बीच व्यवहार के लिए एक संधि होता है : समझौता। यह समझौता आपस में तय की गई शर्तों की एक नियम-नीति व्यवस्था होती है जो एक-दूसरे की स्वार्थ-सुविधा को ध्यान में रखती हुई 'दृष्ट' युक्ति-बुद्धि के साथ बनाई जाती है। इसका आधार रीज़न है, श्रद्धा नहीं। इसे सुविधा के अनुसार अन्यथा भी किया जा सकता है।

अदृष्ट का प्रत्याख्यान करती हुई भी यह दृष्टि अपनी व्यवस्था को देश-काल-पात्र के परे बुद्धि के 'अदृष्ट' में ही रखती है—उसमें वैसी सनातनता देखती है जैसी रिलीजन अपनी व्यवस्था में देखता है। इसलिए अगर यह पूछें कि समझौता कब हुआ? तो इसका कोई उत्तर नहीं होगा। यह अप्रश्न होगा। समझौते की कोई तिथि नहीं हो सकती, इसके लिए किसी 'आदिम' या 'पहले' रूप की चर्चा नहीं हो सकती, क्योंकि बात इतिहास की है ही नहीं। बात व्यवस्था के तात्त्विक आधार की है जो तत्त्व कि देशकाल से सम्बन्ध नहीं रखता, सम्बन्ध मनुष्य-तत्त्व से और उसको देखने की दृष्टि से रखता है। मनुष्य यहाँ आधारेण व्यक्ति है, जिसे मनुष्यतया स्वयंभू कल्पित किया गया है—स्वतोजात। या इसे युक्तिगत व्यवस्था को आधार देने के लिए ऐसा मनुष्य कह सकते हैं जो है नहीं, उद्गृहीत है। व्यवस्था के लिए स्थिर किया गया प्रतिमान। यह प्रतिमान नीति-बुद्धि के साथ उपाय-

धर्म और नीति

कौशल बरतते हुए स्वार्थ साधते व्यक्ति का उभरता है। पर चूँकि व्यक्ति एक नहीं अनेक होते हैं और इन्हें एक-दूसरे की जरूरत भी पड़ती है—देह की, मन की, भावना की (और शायद कह सकते हैं बुद्धि की भी), इसलिए व्यक्ति जहाँ तक हो सके अपने तात्त्विक 'केवली' गढ़ को बचाते हुए अन्य व्यक्तियों के साथ संधि का संधान करता है। एक नीति-व्यवस्था रचता है, जिसका आधार-सिद्धान्त, 'एक-दूसरे के स्वगत स्वार्थ और स्वातन्त्र्य को बचाये रखने का सयानापन' कहला सकता है।

इस सिद्धान्त के पीछे किसी 'अदृष्ट' का निराकरण ही निहित नहीं है, व्यक्तियों के बीच किसी तात्त्विक परस्पर-भाव का भी प्रत्याख्यान निविष्ट है। तभी इसकी व्यवस्था को विशुद्ध नीति-व्यवस्था कहना युक्त है। दण्ड-व्यवस्था भी इसी आपसदारी का फल है, एक चौकीदारी है जो सब मिलकर खड़ी करते हैं (इसलिए प्रजातंत्र यहाँ काम्य है)। यहाँ मनुष्य ही कसौटी है। मनुष्य की मनुष्यभावेन पकड़ का दावा है। तभी अदृष्ट से इनकार है, विशेषकर रिलिजन से : रिलिजन मनुष्य को मनुष्येतर-अमानुषी-हार्थों में सौंप देता है। व्यक्ति की तो इस दृष्टि में कोई अपनी अलग स्वतंत्र संभावना ही नहीं, न व्यक्ति-उन्मुख तन्त्र को अवकाश है। अदृष्ट के नाम पर बनी मनुष्य-व्यवस्था ऐसे सत्तातन्त्र को जन्म देती है जहाँ दण्डधारी नृप या पुरोहित (या पुरोहित-नृप) व्यक्ति की अपनी अभिव्यक्तियों, अपनी संभावनाओं को ही नहीं, मानवता की स्व-यात्रा को, आत्म-प्रस्फुटन, आत्म-पूर्ति को ही किसी बुद्धि-बाहर 'सत्य' या 'ऋत' के नाम पर अवरुद्ध कर देता है।

इस दृष्टि को व्यक्तिवादी ही नहीं दृष्टिवादी भी कह सकते हैं। इस बात की चर्चा हम पिछले लेख में कर भी आये हैं। अन्यत्र (अपनी पुस्तक धर्म-संकट में) भी हम इसकी चर्चा कर आये हैं। यह एक व्यापक दृष्टि है और कई रूप ले सकती है, पर इसे रूप देने में एक विचित्र सा वैषम्य—एक अन्तर्विरोध—सामने आता है जो वैसे स्वाभाविक भी है। इस दृष्टि का अभिप्राय, या उसका मर्म कहिये, व्यक्ति को ही नहीं, स्वेच्छा-स्वार्थ-समर्पित व्यक्ति को प्राथमिकता देना है—उसकी स्वैरता को उसका व्यक्तित्व कहना है। ऐसे में व्यक्तियों के बीच के सम्बन्धों का आधार नीति ही हो सकती है, धर्म नहीं। समझौता-नीति है, स्वार्थ-प्रेरित, स्वार्थ के ही संरक्षण के लिए, स्वार्थ-व्यापार की सुरक्षा के लिए आवश्यक, यह सीधी सी बुद्धिमानी है, स्वैरता-सिद्धि का उपाय-कौशल, इसके लिए कर्म के किसी ऊर्ध्वतर (अदृष्ट) औचित्य की बात अनावश्यक है। पर समस्या यहाँ यह है कि नीति किसी अंतर्निविष्ट परस्पर-भाव का, परस्पर-दायित्व-बोध का आधार नहीं हो सकती। व्यक्ति के नियमन—उसे मर्यादित, नियन्त्रित रखने—का उपाय तब दण्ड ही हो सकता है। पर ऐसे तन्त्र में व्यक्ति जहाँ स्वभाव से स्वैर है, मर्यादित नहीं, वहाँ व्यक्ति का तो यही कर्म—यही बुद्धि—'धर्म' बनता है कि वह अपने उपाय-कौशल से—चतुराई से—उस पर आरोपित दण्डनीति के चंगुल से, जैसे बने निकल जाये। इच्छा-पूर्ति करे, मनमानी करे। इसके लिए छल-कपट का, वंचना का, कुशाग्र उपयोग भी करना पड़े तो बुराई क्या?

नीति-कौशल ही होगा। अचंभा क्या कि बृहस्पति-नीति के नाम से चलते हुए सूत्रों में 'धर्म-ध्वज' होने को—'धर्म' के नाम पर स्वार्थसिद्धि को—नीति की कुशलता साधना कहा है।

साफ ही समझौता-सिद्धान्त वालों का अभिप्राय बृहस्पति का अनुमोदन नहीं है, चाहे उनका सिद्धान्त बृहस्पति के आगे निरन्तर हो। बल्कि बृहस्पति ही उनकी दुहाई दे सकते हैं। कहा नहीं जा सकता कि वे व्यक्ति-वादी थे या नहीं—नहीं ही होंगे—पर उनके लिए अपनी नीति-दृष्टि के समर्थन की ज़रूरत पड़ने पर व्यक्तिवाद युक्ति का काम दे सकता था। सच पूछिये तो व्यवहार में व्यक्तिवाद विशुद्ध होता नहीं है, व्यक्ति-सत्ता को आत्यन्तिक बनाने की ओर बढ़ता भी है तो बात विचार की एक मुद्रा ही होती है—वैसे भी विचार जिधर बढ़ता है, प्रत्यन्त की, ऐकान्तिकता की ओर ही बढ़ता है। उसे विचार-प्रज्ञा की स्वीकृति मिलना और बात है।

सच पूछिये तो समझौता वाले भी व्यक्तियों के बीच एक निविष्ट, व्यक्ति-ऊर्ध्व-परस्पर-भाव और परस्पर-भावन या दायित्व-बोध को मान कर चलते हैं। व्यक्ति स्व-सीमित हो और केवल उसकी आकांक्षा और ज़रूरत का हिस्सा हो तो व्यक्तियों के सम्बन्ध सिरे से ही—अपने मूल में ही—सत्ता, शक्ति, प्रभुत्व, सामर्थ्य के ही होंगे, दूसरे शब्दों में दण्ड के होंगे। बिना परस्पर-भाव के किसी 'समझौते' की बात को भी स्थान कहाँ? यों भी देखिये : समझौता एक बुद्धिजन्य नीति है। बुद्धि की व्यक्ति-निरपेक्ष सामान्यता, उसका आत्मचेतन सर्वसाधारण-भाव—आत्मचेतन व्यक्ति मात्र में उसकी मध्यस्थता—यह तो समझौते की संभावना की ही नींव है। व्यक्तिवाद का विचार, उसका सिद्धान्त भी बुद्धि के इस सार्वभौम वैश्वानर को मान कर चलता है। 'वैश्वानर' यहाँ प्रतीक-रूप बुद्धि की सार्वभौम, सर्वसाधारण संभावना के साथ बुद्धि की प्रज्ञा का भी प्रतीक है जो मनुष्य के कर्म-बोध में भी सहज परस्पर-भाव के साथ व्याप्त होती है। बुद्धि को ही आत्मचेतना का लक्षण मानें तो कह सकते हैं कि बुद्धि का सामान्य-भाव मनुष्य की जाति या सामान्य चेतना में घर करता हुआ उसे परस्पर-भाव भी देता है। व्यक्ति को अन्य-व्यक्ति-सामान्य करता है। समझौता ऐसी सामान्य-निष्ठ बुद्धि में ही आधृत हो सकता है। पर फिर बात केवल नीति की नहीं होगी।

थोड़ा भी गहराई से देखें तो समझौता अपने आधार-तत्त्व में धर्म के रूप में ही उभरता है। वह कर्म के औचित्य का ही एक मार्ग है, आदर्श है जो उपाय-कौशल ही नहीं, निष्ठा चाहता है, हर समझौता-पालक व्यक्ति से एक अपनी तरह की चर्या, प्रण, उसका सतत निर्वाह-व्रत-चाहता है। फिर इसका एक अपनी परंपरा में—एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में—बिल्कुल नये व्यक्ति-समूह में सन्तति-प्रवाह भी चाहता है। यह परंपरा व्यक्ति-चेतना में नहीं समाज-चेतना में ही स्थित हो सकती है, जो चेतना अन्ततोगत्वा मनुष्य-मात्र को, मनुष्य-जाति को, मनुष्यत्व को प्रभावित करे—यह 'अदृष्ट' प्रेरणा भी यहाँ उभरती ही है। यह वैश्वानर-बुद्धि या चेतना को ही मान कर चलने की बात है। यही चेतना अर्थ-

धर्म और नीति

लोकों में उभरती है और उन्हें परम्पराधिष्ठित करती है—मेरे विचार की कड़ी को सुकरात या वात्स्यायन से जोड़ती है। यह विगतोन्मुख ही नहीं होती, भविष्योन्मुख भी यही हो सकती है। क्योंकि यह देशकाल में होती ही नहीं। व्यक्तिवादी, समझौतावादी, समझौते को जो देश-काल-पात्र से परे रखता है, उसके पीछे यही प्रज्ञा है। वरना समझौता आदमी में बना रहे इसकी चिन्ता ही क्यों? नये व्यक्ति आये तो जो चाहे करें, मुझसे उनका सम्बन्ध ही क्या? मेरा समझौता उनके साथ तो बन ही नहीं सकता।

वास्तव में तो किसी भी अदृष्ट-कहलाते आदर्श की तरह व्यक्तिवाद भी समझौते की बात को एक साध्य के रूप में शिक्षा-दीक्षा-संस्कार-निष्ठित करने के कदम उठाता है। संविधान रचता है जो 'पूज्य' माने जाते हैं। व्यक्तिवाद की प्रेरणा केवल स्वार्थ-साधनी नीति की नहीं होती, वह यह भी चाहता है कि स्वैर व्यक्ति मर्यादित नागरिक भी बने और यह नागरिकता सभ्यता का आधार हो।

यों व्यक्तिवाद के आदर्श में अहिंसा-आनृशंस्य की ध्वनि स्पष्ट है, जहाँ कर्म का औचित्य-बोध प्राण-मात्र के प्रति-विशेषकर मनुष्य के प्रति-सहज परस्पर-भाव को धर्म का आधार बनाता है। (आनृशंस्य को महाभारत में परमधर्म कहा गया है। आनृशंस्य की चर्चा हम अपनी पुस्तक धर्म-संकट में कर आये हैं। वर्तमान चर्चा में पिछली चर्चा ऊह्य है।) आनृशंस्य अहिंसा को आधार बनाता है, उसमें प्राण के प्रति एक अतिमृत्यु-अमरत्व का बोध पूर्वगृहीत है। धर्म में यह स्वाभाविक है। नीति में इसका स्थान नहीं दिखता। व्यक्तिवाद में यह विसंगत है। व्यक्तिवाद का व्यक्ति देह-पर्यन्त ही होता है। उसे मनुष्य-जाति के सातत्य का ही ध्यान क्यों हो? इस सातत्य-कामना में मनुष्यत्व की अमरत्व-कामना तो व्यंजित है ही—साथ ही यह भी व्यंजित है कि मनुष्य अमर होने के योग्य है। यह योग्यता किसी ऐसी संभावना से ही बन सकती है जिसे स्वार्थ से परिभाषित नहीं किया जा सकता।

व्यक्तिवाद या मानव-व्यवस्था का कोई भी रूप ऐसे कर्तृत्व की माँग करता है जो इच्छा से ऊपर उठे, संकल्प का हो। ऐसे संकल्प की संभावना ही धर्म की भी संभावना है। नीति को हम स्वार्थ के साथ और स्वार्थ-सारथि बुद्धि के साथ जोड़ें तो संकल्प को इस क्रम में नहीं रख सकते। संकल्प का सम्बन्ध ऐसी साध्यता के साथ बनता है जो किसी भी उपाय-बुद्धि से परिसीमित नहीं की जा सकती। संकल्प-चेतना विशुद्ध उपेयता की ओर खुलती लगती है। पर वहाँ सहज ही उपेय होता है, उपाय नहीं। तभी संकल्प धर्म का आधार है।

स्वार्थ हममें सहज हो, पर स्वार्थ की व्यक्ति-निष्ठ 'केवली' साधना हममें बहुत विरल होती है। यह एक विचित्र विपरीत संकल्प की माँग करती है जो पर को विशुद्ध उपाय माने। यही 'आततायी' की कल्पना है, या 'असुर' की। सच यह है कि परार्थ-बोध के बिना स्वार्थ-बोध भी नहीं होता। संकल्प के इच्छा-ऊर्ध्व होने में यह भी निहित है। हमारा

कर्तृत्व-बोध भी इसका साक्षी है। कर्तृत्व संकल्प को ऊँह रखता है और उस चेतना को भी जिसे हमने अभी ऊपर 'वैश्वानर' कहा।

व्यवहार-जगत् के नियम इसी चेतना की अभिव्यक्ति कहे जा सकते हैं। हम कह आये हैं कि भाषा के नियमों की तरह आचरण के नियमों का भी 'अर्थ' होता है। ये ऐसी अपूर्व विधि होते हैं जो कर्म की उपेयता को घर देते हैं।

सहज ही आचरण का 'अर्थ' सत्-आचरण (सदाचरण) होता है। सदाचरण शील है। 'शील' का अर्थ ही है हमारी कर्तृ-चेतना का प्रत्यक्-भाव की एक नई भूमि पर आ ठहरना। अब नियम से नियमित होने की बात नहीं रहती, बल्कि सदाचरण ही नियम का आधार होता है। जैसे भाषा में भाषा के सत् या सार्थक प्रयोक्ता का प्रयोग ही कसौटी बन जाता है।

यहाँ भाषा की एक और बात पर ध्यान दीजिये। भाषा में प्रौढ़ता के स्तर देखे जा सकते हैं। नियम की दृष्टि से इन्हें हम देशी और संस्कृत (या मार्गी) कह सकते हैं। देशी जन्म के साथ स्वतः सीखी गई भाषा है जहाँ नियम नियम लगता ही नहीं, संस्कार होता है। पर मार्गी के साथ नियम-चेतना जागरूक हो जाती है—नियन्त्रित करती भी लगती है। पर अब अर्थ की संभावनायें खुलती हैं जो पहले अवरुद्ध या अव्यक्त थीं। आत्मचेतना अब अधिक आत्मस्थ हो जाती है : उसे अर्थ-लोकों के संदेश मिलते हैं जो पहले आवृत थे। सुगढ़, विदग्ध प्रयोक्ता के लिए नियम अब प्रयोग के एक नये स्तर पर निष्प्रयत्न भी हो जाते हैं। उसका प्रयोग ही अब नियम की कसौटी बन सकता है। वह भाषा-चेतना के 'शील' में ढल जाता है। उसकी भाषा-चर्या ही भाषा की 'शिष्ट' चर्या हो जाती है। शिष्टता और प्रौढ़ता की नई प्रथायें, रूढ़ियाँ, परिपाटियाँ—दूसरे शब्दों में नियम-बनते हैं। इनमें सचमुच बंधन की भी अनुभूति होती है जो देशी के नियमों में नहीं होती। पर अब नियम के पारे की नई आहट भी चेतना पर उजागर होती रह सकती है—प्रज्ञा या प्रतिभा को अब हम नियमों के ऊपर देख सकते हैं।

आचरण-व्यवहार में भी हम ऐसा ही कुछ देख सकते हैं। नियमों का एक सहज, संस्कार-मग्न सा रूप हर समाज में होता है। यही 'देशी' की अवस्था है। जिन्हें हम सभ्यता-रहित, 'आदिम' समाज कहते हैं उन्हें हम पूरी तरह 'देशी' भी कह सकते हैं। सभ्यता नियमों के प्रति मध्यस्थता की—आत्म-चेतन निरीक्षण-परीक्षण की—अधिक जागरूक अवस्था भी होती है। अब नियमों में प्रामाणिकता का प्रश्न भी उजागर हो जाता है। व्यक्ति-चेतना भी अधिक स्फुट रूप लेती है। नियम बंधन बन जाते हैं। व्यवहार मार्गी हो जाता है।

शिष्टता की परंपरायें बनती हैं, जहाँ आचरण का शील सदाचरण—आदर्श होता है। हम कह सकते हैं कि आचरण के नियम शील की संभावना के द्वार होते हैं, उनका

बंधन होना उनका वास्तव 'अर्थ' नहीं है। एक और बात यहाँ देखी जा सकती है। शील में इच्छा-तन्त्र का नियमन तो होता है पर व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का व्याघात नहीं होता—बल्कि शील शील तभी होता है जब उसमें स्वातन्त्र्य ही नहीं, एक स्वाच्छन्द्य हो; तभी हर व्यक्ति के शील की अपनी भंगी, अपनी शैली की बात की जा सकती है। जैसे भाषा के सृजनशील प्रयोग में।

पर शील के स्वातन्त्र्य, स्वाच्छन्द्य का अर्थ है सत् का स्वाच्छन्द्य। सत् यहाँ संकल्प का सत्य है, कर्म-चेतना का इच्छा-वासना के तन्त्र से उठकर अपने प्रत्यक्-भाव में स्थित होना। संकल्प का होना ही निष्काम भाव की अपेक्षा रखता है। कर्म की यात्रा का आरंभ भी वास्तव में शील से ही समझना चाहिये। जिन्हें अपने यहाँ मनुष्य का 'साधारण', सार्वभौम, धर्म कहा गया है : सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दया, दान ... इनकी सत्-रूपता अब संकल्प पर प्रकट होती है। यहाँ भी उभरता है कि व्यवहार के नियमों की कसौटी भी इन्हें ही होना चाहिए।

पर दूसरी ओर नियम अब नीति का रूप लेने लगते हैं—व्यक्ति को शिष्ट बनाने और बनाये रखने की आवश्यकता अब उपाय-कौशल ढूँढती है। आचरण-व्यवहार के मार्गी स्तर पर व्यक्ति अधिक स्फुट-रूपेण उभरता है तो अपने को 'शिष्य' और 'दम्य' भी पाता है।

एक विषम द्वंद्व अब उभर आता है। नीति परिणाम देखती है, एक परिस्थिति को लक्ष्य बनाती है, जबकि धर्म की उपेयता को किसी निर्धार्य परिणति के रूप में देखा ही नहीं जा सकता। वह उपेयता उपाय-नेय, नीति-नेय होती ही नहीं। संकल्प-नेय होती है, और संकल्प स्व-नेय होता है। ऊपर हमने व्यक्ति और समष्टि के द्वंद्व की बात की थी, उसका मूल यही है।

मनुष्य की जिजीविषा में प्रवृत्ति अभीप्सा-साफल्य मात्र की उपादेयता से उठ कर उपेयता का जो अन्तरिक्ष पाती है—आचरण के नियम उसके संकेत होते हैं। यह संकेत जो दिशा दिखाता है वह नीति की नहीं, प्रज्ञा की है। तभी मैंने कर्म के लिए नृत्त का दृष्टांत लिया था। नृत्त में—या किसी भी कला में—नियम की बात की जा सकती है—सीखने की चौखट पर तो इनका 'नियमन' अपरिहार्य जैसा भी लग सकता है। पर नृत्त तो नियम से उठ कर ही बनता है। नृत्त की नीति नहीं हो सकती—हालांकि नृत्त-कर्म के हर स्तर पर प्रथा, परिपाटी, रूढ़ि-नीति—उभरती ही है। पर नृत्त की प्रतिभा इनसे बँधती नहीं—इन्हें व्यवहार्य ही रखना चाहती है, नृत्त का परमार्थ नहीं।

धर्म में भी बात यही होती है, हालांकि कला जैसे स्फुट नहीं होती। पर शील में यह उभरती दिखती भी है। पर शील भी शिष्टता के अपने नियम बनाता है, जिन्हें हम विधि-निषेध में बाँध कर नीतियों का रूप देते दिखते हैं। उपादेय बना देते हैं शील को।

धर्मशास्त्र-या आज के संविधान-कुछ ऐसा ही करते दिखते हैं। पर धर्म-चिन्तन के और खुले मार्ग भी हैं जहाँ धर्म को नियम-नीति-नेयता से बिल्कुल ऊपर रखा गया है। महाभारत का एक प्रसंग यहाँ विशेष अवधेय है। प्रसंग की कुछ विस्तार से चर्चा अपनी पुस्तक धर्म-संकट में कर चुका हूँ। यहाँ उसे ऊह्य रखते हुए संक्षेप में उभाऊँगा। कृष्ण कर्म की प्रेरणा स्पष्ट रूप से प्रज्ञा या प्रतिभा में देखते हैं, किसी नियम में नहीं। धर्मशास्त्रों के मार्ग से विपरीत गति लेते हुए वे कहते हैं कि धर्म को वेद से तो क्या 'सत्यं वद' जैसे निर्भान्त लगते उदार और व्यापक चेतना-धर्मी नियम से भी नहीं बाँधा जा सकता। कर्म का औचित्य (धर्म) कर्म-प्रज्ञा की बात है, इसे सीखा जा सकता है तो प्रज्ञाशील से ही सीखा जा सकता है (जैसे नृत्त प्रतिभावान् नर्तक से)। तात्पर्य यह कि धर्म का परमार्थ-उसकी विशुद्ध उपेयता या साध्यता-व्यवहार्य नहीं हो सकती, नियम-नीतियों में नहीं ढाली जा सकती। मनु भी जब धर्म के उत्स श्रुति, स्मृति, सदाचार बता कर कहते हैं, 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' तो इंगित इसी ओर है। जिस 'आत्म' का 'प्रिय' कर्म धर्म हो सकता है वह स्वेच्छ या स्वैर आत्म नहीं है-उसमें तो कर्म का प्रमाण संकल्प के साथ प्रत्यक्-भाव में जागती कर्मप्रज्ञा ही हो सकती है।

कृष्ण ने धर्म की नियम-नेयता से इन्कार करते हुए, उसे किसी निर्धार्य रूप में स्थिर कर पाने से भी मना किया, पर फिर भी उन्होंने धर्म के दो लक्षण दिये। उन्होंने कहा कि अवध और प्रभव धर्म है। 'अवध' अहिंसा का ही दूसरा नाम है। अहिंसा की चर्चा हम कर आये हैं-प्राण को अपने-आप में सार्थक ही नहीं किसी अनश्वर प्रज्ञा का बीज माने बिना धर्म का आधार ही नहीं बनता। तभी धर्म की उपमा ऊर्ध्वमूल अधःशाख वटवृक्ष से दी गई है-उसकी जड़ें ऊपर से उतरती हुई नीचे घर करती हैं। प्रभव को धर्मप्रज्ञा का कृतित्व कह सकते हैं : वह हमारे उपलब्ध व्यवहार को अपनी सर्जना का उपादान बनाते हुए अपने किसी प्रतिमान के आधार पर रूप देने की वृत्ति है। यह सर्जना एक यात्रा ही हो सकती है, नियत परिणाम नहीं। कृष्ण का धर्म को अनिर्धार्य बताना भी यही व्यंजित करता है। प्रभव को एक ऐसा अभ्युदय भी कह सकते हैं जो व्यक्ति का भी है, समष्टि का भी : मनुष्यता का उन्नयन है।

पर व्यवहार में हम प्रभव को नियत करते हैं। उसे साधने के उपाय-कौशल बाँधते-बरतते हैं। यही नीति है। झलकता यह भी है कि नीति के बिना चारा भी नहीं। हम रूप किसी उपेयता को नहीं दे सकते, किसी निर्धारित उपेय को ही रूप दे सकते हैं। इसके लिए धर्म को उचित-वांछित परिस्थिति या अवस्था के रूप में साधना अनिवार्य है। नहीं तो धर्म एक ऐसे परमार्थ लोक-या आलोक-में होगा जो व्यवहार से नितांत असंबद्ध है। अब ऐसे में हम उसे किसी परम विशुद्ध और परम-ऊर्ध्व शिव-संकल्प का विषय मान भी लें तो भी वह अर्थ-काम से अस्पृष्ट रहेगा, इन्हें अपनी सर्जना का उपादान नहीं बना सकेगा। वह ऊर्ध्वमूल तो होगा, अधःशाख नहीं होगा। पर कर्मप्रज्ञा और उससे अनुप्राणित संकल्प हमारे

धर्म और नीति

व्यवहार में ही जागते हैं, उसी का प्रभव चाहते हैं। इसके लिए व्यवहार के अन्यथाकरण की अपनी संभावनाओं को—उसके कार्यकारण भाव को—काम में लेना भी अनिवार्य ठहरता है। नीति के बिना मार्ग नहीं दिखता।

पर नीति मार्ग हो नहीं सकती, क्योंकि साध्य कोई परिस्थिति या अवस्था, या ऐसा ही कोई बहिरंग परिणाम है ही नहीं। साध्य चेतना ही हो सकती है जो अपनी प्रवृत्ति में ऊर्ध्वमूल होकर व्यवहार में अधःशाख हो सके। यही बात व्यवहार-लोक को अर्थलोक बनाती है। यही बात अपने तत्त्व में उपाय और उपेय का भेद भी मिटा देती है—दोनों अभिन्न होकर एक ही स्पंद, एक ही स्फुरण के अंग होते दिख सकते हैं। उनका भेद बनता ही परिणाम या फल को लक्ष्य में रखकर है।

इस संदर्भ में व्यक्ति और समष्टि का भेद बड़ा उभर कर आता है। विचित्र लग सकता है। हम कहते आये हैं कि धर्म-बोध, उसका नियम-रूप अवतार, ये मनुष्य की जाति-चेतना में घर करते हैं। भाषा की तरह समाज में हो कर व्यक्ति तक पहुँचते हैं। पर भाषा की तरह ये भी आत्मचेतन व्यक्ति में होते हैं, वहीं इनका आत्मविकास भी स्फुटतर होता है। प्रज्ञा की उपेयता का स्पंद—या छंद कहिये—जहाँ उपाय-कौशल भी उपेयता से अभिन्न होता है, जैसा नृत्त के सर्वतोभद्र क्षणों में यह कृष्ण या गाँधी जैसे कर्मप्राज्ञ-धर्म-प्रतिभ-व्यक्तियों में प्रकाशित दिखता है। ऐसे व्यक्तियों में नियम या नीति का जो रूप दिखता भी है वह हमें इससे उत्तीर्ण होने का मार्ग बनता भी दिखता है। बोधिसत्त्व के उपाय-कौशल की तरह प्रज्ञा में बसता है।

समाज की गति प्रतीप ही प्रतीत होती है। समाज का चलना ही नीति, बल्कि कठिन-कठोर नीति—दण्डनीति के बिना अकल्पनीय लगता है। शिक्षा-दीक्षा, शील-सदाचार के आदर्श, प्रथायें, लोक-लाज, दबाव ... के सिवा भी राज्य-व्यवस्था और उससे संलग्न कानून, दण्ड, इनके बिना, दूसरे शब्दों में व्यक्तियों के समष्टि-गत अवरोध के बिना, समाज की गति ही मानो अचल दिखती है। धर्म की प्रज्ञा व्यक्ति में नीति-उत्तीर्ण हो ही, हम कल्पना कर सकते हैं, कभी देखते-पाते भी हैं, पर नीति के बिना—बल्कि राजनीति-दण्डनीति के बिना—समाज की कल्पना नहीं कर सकते। समाज में धर्म स्वरूप से ही नीति-निविष्ट या नीति से अविनाभूत जान पड़ता है। यहाँ लग सकता है कि नीति धर्म का तात्त्विक अंग है।

यहाँ एक और बात नीति को धर्म के स्वरूप में ही निहित रखती दिख सकती है। न्याय को धर्म से अभिन्न नहीं कहा जा सकता। उल्टे कहा जा सकता है कि न्याय ही धर्म का सार है। न्याय का आधार परस्पर-भाव है और समत्व है। हम यह भी कह ही सकते हैं कि ये दोनों अवध और प्रभव की उस धरती पर जड़ करते हैं जिसे हम धर्म की आधारभूमि के रूप में संकेतित कर आये हैं। देखने को न्याय का आधार धर्म में न देख कर विशुद्ध नीति

में भी देखा जा सकता है : स्वार्थरत, स्वप्रतिष्ठ व्यक्तियों के संधि-पत्र या समझौते में। समत्व भी अहिंसा-बोध में निहित प्राणों के अविनश्वर एक-तत्त्व या एक-प्रज्ञता जैसे संकेत में बसता है। इसके बिना तो व्यक्तियों के सम्बन्ध प्रभुत्व के या वंचना के ही हो सकते हैं—हालांकि भूलना नहीं चाहिए कि वंचना या छल-कपट भी अकुटिल परस्पर-भाव की धरती पर ही बन सकते हैं, अन्यथा तो बात विशुद्ध सत्ता, शक्ति, प्रभुत्व की ही होगी। न संधि का स्थान बनेगा, न न्याय का।

पर भेद के बिना भी न्याय की बात नहीं बनती। परस्पर-भाव के साथ समत्व, ये भी भेद को मान कर चलते हैं, व्यक्ति-भेद को। दायित्व-बोध भी भेद को मान कर चलता है। फिर यह भी है कि न्याय की अपेक्षा, न्याय का करना, न्याय का होना, इन्हें एक फल या परिणाम के रूप में ही देखा जा सकता है—नीति, जो किसी न किसी नियम-कानून-दण्ड-व्यवस्था का रूप लेती है, वह यहाँ अनिवार्य जान पड़ती है। यहाँ—न्याय में—नीति के बिना धर्म ही बनता नहीं दिखता। यहाँ धर्म और नीति के विरोध को विरोध का आभास कहा जा सकता है। हाँ, हम कल्पना कर सकते हैं—कभी व्यवहार में पाते भी हैं—कि धर्मशील विरल व्यक्ति-विशेष के लिए उनके अपने प्रति अन्याय की स्थिति बनती ही नहीं, वे इससे ऊपर उठे होते हैं पर वे भी अन्यो के प्रति होते अन्याय से विचलित हो सकते हैं, न्याय की अपेक्षा का दायित्व-बोध तो औरो से अधिक तीव्रतर भाव से रख ही सकते हैं। (यह भी कहा जा सकता है कि न्याय में अपने प्रति अन्याय की सहनशीलता भी न्याय की अवमानना है।)

न्याय एक धर्मानुस्यूत नीति-व्यवस्था से सापेक्ष है। नीति यहाँ धर्म-निमज्जित न सही, धर्मोन्मुख देखी जा सकती है। उसे परस्पर-भाव और परस्पर-भाव-सापेक्ष समत्व की कसौटी पर कसते-बदलते सँवारा-निखारा भी जा सकता है : जागरूक व्यवस्थार्ये ऐसा करती ही हैं—‘समझौता’ की व्यवस्था-दृष्टि में भी यह बोध गहरा है, चाहे उसकी तत्त्व-दृष्टि की दिशा और हो।

परस्पर-भाव में व्यक्तियों के बीच भेद और अभेद का एक बड़ा विचित्र मिलन उभरता है। इसका अर्थ-गहन रूप प्रेम में, मैत्री में उभरता है, जहाँ मानो चेतना का ही एकत्व अनेक में विभक्त होकर अपने एकत्व का अर्थ-संधान कर रहा हो। भाषा-चेतन आत्मचेतना के मूल में ही एक विभक्त अभेद का भाव प्रकट होता है, जहाँ चेतना (या ‘चैतन्य’, चित्) व्यक्ति का विविक्त, अन्य-व्यावृत्त रूप लेती हुई समष्टि-व्यापक होती है। लगता है, एक आधारगत रूप में चेतना आत्मचेतन व्यक्तियों में बँटती हुई उन्हें एक में पिरोती है। व्यक्ति रूप से उन्हें अलग करती हुई भी निर्वैयक्तिक सामान्य में रखती है, जहाँ अर्थलोक उभरते हैं, उनकी परंपरार्ये उभरती हैं। यहाँ हम चेतना में बुद्धि के एकत्व का पक्ष देख सकते हैं : बुद्धि की अवगति—बोध—के मूल में ही एक गहरी अभेद-चेतना होती है (जिसे अतिक्रामी भी कहा गया है) जो बुद्धि के व्यापार को ही एकत्व की धरती देता है।

धर्म और नीति

पर बुद्धि फिर भी स्वभाव से भेदोन्मुख ही होती है, उसका अभेद भेद को ही उजागर करने का आधार-पटल सा जान पड़ता है। पर धर्म का परस्पर-भाव भेद को मिटाने की ओर उन्मुख लगता है। यहाँ भेद अभेद में बस जाता है, तभी अहिंसा ही नहीं, सहानुभूति परदुःखदुःखित्व, करुणा, दया, दान ... संभव होते हैं।

न्याय परस्पर-भाव की भूमि पर ही खड़ा हो सकता है, पर झुकता भेद की ओर है। जोर यहाँ व्यक्ति के अन्य-व्यावृत्त भाव पर होता है। उसके स्वार्थ का आदर होता है। इसलिए एक गहरे अर्थ में समाज-व्यवहार की धरती को ही न्याय पर धृत कहा जा सकता है। उदात्ततर परस्पर-भाव कम ही उभरते हैं, उभरते हैं तो व्यक्तियों में, व्यक्तियों के बीच उभरते हैं, समाज-चेतना को व्याप्त नहीं करते। पर वहाँ व्यक्ति का स्व-बोध स्वार्थ-बोध के साथ न्याय-बोध में भी जागता है, जो परार्थ का पर-स्वार्थ के अर्थ में स्वीकार है। इसलिए समाज के साधारण परस्पर-भाव को 'समझौता' का भी नाम दें तो बात में तत्त्व होगा। या फाएट्टस के सुकरात की चर्चा में हमने जिसे आपसदारी का 'सयानापन' कहा था, इस परस्पर-भाव को उस कोटि में भी रखा जा सकता है। पर साधारणतः इसमें स्वार्थ की ही नहीं, स्वार्थ के साथ ही परार्थ की स्वीकृति भी होती है—व्यक्तियों के सम्बन्ध स्वार्थ के ऊपर उन्मुख दिखते ही हैं, नहीं तो जीना ही बेमानी लगे। तभी किसी भी थोड़ी भी सुराज्य-व्यवस्था में नीति न्याय को ही रूप नहीं देती, जनहित या जन-कल्याण, जन-स्वार्थ—साधने के उपाय, भी विचारती-बरतती है। इसके लिए कार्य-कारण कौशल से और विशेष संस्थानों के प्रतिष्ठापन-संचालन से मार्ग प्रशस्त करने के प्रयत्न भी करती है। इस बात की निगरानी भी करती रहती है कि हित-नीति के परिणाम हितकर ही हों, भ्रष्ट न हो जायें। मनुष्य के परस्पर-भाव में न्याय के साथ प्रभव या अभ्युदय की, उसे साधने के उपाय-कौशल की, चिन्ता बनी रहती है।

यों मनुष्य-समाज को हम स्वार्थ-सम्मित, न्यायाधिष्ठित परस्पर-भाव पर आधारित कह सकते हैं। नीति-संचालित होते हुए भी समाज धर्मोन्मुख होता है, नीति को धर्म-दृष्ट, प्रभावानुकूल रखने का प्रयत्न करता है।

पर मनुष्य-समाज एक नहीं होता, अनेक होता है। मनुष्य में व्यक्ति-अनैक्य न्याय-धर्म की परिधि में परस्पर-भाव से गुँथा दिखता है, पर समाजों का अनैक्य इस परिधि से विच्छिन्न ही उभरता है। इस अनैक्य का विषय-कुटिल रूप राज्यों के अनैक्य में उभरता है। राज्य, राष्ट्र और समाज को सम-व्याप्त तो नहीं कह सकते, पर न्याय-व्यवस्था के साथ ही राज्य-व्यवस्था हर समाज में होती है। हर समाज किसी न किसी राष्ट्र का अंग होता है जो समाज में न्याय-व्यवस्था, दण्ड-व्यवस्था को सँभालता है।

राष्ट्रों—या राज्यों—के बीच सम्बन्ध में परस्पर-भाव सर्वथा अभाव नहीं तो लगभग अभाव ही दीखता है। राज्य स्वभाव से ही परस्पर-भेद ही नहीं, एक परस्पर-निहित शत्रुता

की दरार पालते हैं। उनके सम्बन्धों में नीति अपने शुद्ध, निरावरण रूप में आगे आती है—परस्पर-भाव से अस्पृष्ट, अवध और प्रभव दोनों को नकारती है—कपट-वंचना का आवरण धारण करती है। हमारे यहाँ के पुराने राज-नीति-चिन्तन में राज्यों के सम्बन्धों को स्वरूप से ही साम, दान, दण्ड, भेद से परिभाषित किया गया है। हम पाते भी हैं कि इनके बिना किसी भी राज्य के पर-राज्य सम्बन्ध को समझा-आँका नहीं जा सकता। इन्हें हर राज्य की पर-राज्य-नीति के स्तम्भ कह सकते हैं। तभी राज्यों के बीच परस्पर-भाव के सूत्र उभरें भी तो संदिग्ध रहते हैं। आज यह चेष्टा भी है कि राष्ट्रों के बीच न्याय, परस्पर-भाव के सूत्र भी संस्थानित किये जा सकें, पर सम्बन्ध की जड़ में फिर भी साम, दान, दण्ड, भेद के साथ बात वही रहती है।

हम कह सकते हैं कि इस चतुष्कोटि में तीन : साम, दान, भेद, या इनके कम आपत्तिजनक, अधिक धर्म्य रूप जो आज साधे जाते हैं, वे दण्ड-युद्ध-को टालने के मार्ग हैं। पर युद्ध अटल ही दिखता है, बल्कि कई नये छद्म-भीषण रूपों में आगे आता है, जो युद्ध को राज्य-व्यापक ही नहीं, समाज-व्यापक किये दे रहे हैं।

युद्ध में धर्म का सर्वथा हनन है। पर युद्ध का निराकरण मनुष्य नहीं कर सकता। लगता है मानो युद्ध का मनुष्य के साथ अविनाभाव है। वैसे ही जैसे धर्म का। मनुष्य की रहनी समाज के बिना और समाज राज्य के बिना संभव नहीं। और राज्यों के बीच युद्ध सनातन लगता है। अशोक ने भी युद्ध से विरति की, पर सेना रखने से विरति नहीं की—कोई राज्य नहीं कर सकता। युद्ध का कारण न्याय भी हो सकता है : आक्रमण से बचाव, लोगों की स्वराज्य-कामना, किसी अधिकार के लिए शस्त्रों की शरण (जैसी महाभारत में)। यों युद्ध-विशेष का औचित्य ठहराया जा सकता है। यों 'धर्मयुद्ध' की बात की जा सकती है। पर युद्ध का होना—संकल्प, प्रयत्न, उपाय-कौशल के साथ किया जाना—चाहे उद्देश्य न्याय हो—यही धर्म से विसंगत है। कृष्ण और गाँधी दोनों यही मानते थे। दोनों ने इसका सामना किया। गाँधी ने इसे धर्म-विरोधी-अहिंसा और सत्य दोनों का उन्मूलक मानते हुए भी परिस्थिति, परिणाम विशेष को ध्यान में रखते हुए इसका अनुमोदन किया। ऐसी नीति के रूप में जो व्यवहार के तत्-देश और तत्-काल में अधिक उचित थी, धर्मानुकूल थी। कृष्ण तो योद्धा ही थे। पर अवध और प्रभव को धर्म मानते हुए वे युद्ध को धर्म का अंग नहीं मान सकते थे। लेकिन वे युद्ध को 'सत्य' भी मानते थे। 'सत्य' से उनका तात्पर्य गाँधी से एकदम भिन्न था। उनके लिए 'सत्य' का अर्थ 'तथ्य' उभरता है। उनका मानना था कि युद्ध मनुष्य के व्यवहार का अभिन्न अंग है—मनुष्य युद्ध करता ही है, सदा करता आया है, करेगा। इसे मनुष्य के व्यवहार से हटाया नहीं जा सकता—तभी अस्त्र बनते हैं, उनमें अधिक से अधिक घातक शक्ति साधी जाती है। फिर भी कृष्ण के चरित में उभरता लगता है कि वे युद्ध को अपने आप में धर्म्य न मानते हुए भी यह मानते थे कि युद्ध को धर्म्य नीति का अंग बनाया जा सकता है—जैसा कि मनुष्य की प्रवृत्ति की किसी भी दिशा को।

पर युद्ध का 'धर्म्य' प्रयोग भी कैसी विभीषिका हो सकता है, यह किसी से छुपा नहीं है। मज़हबों ने सत्य के नाम पर युद्ध किये हैं—सत्य के कुछ वैसे ही अर्थ में जो गाँधी जी को अभिप्रेत जान पड़ता है : ईश्वरीय सत्य को मनुष्य में फैलाने के नाम पर युद्ध किये हैं मज़हबों ने—मनुष्य को मिथ्या और मोह के अंधकार से निकाल कर, आचरण-व्यवहार के दिव्य-धर्म्य मार्ग पर स्थित करने की खातिर। इसे प्रभव के लिए युद्ध भी कह सकते हैं—मनुष्य के 'अदृष्ट'—प्रमाणित विकास या अभ्युदय के लिए युद्ध। प्रभव के लिए युद्ध मज़हबों ने ही नहीं किया है। कम्यूनिस्टों ने 'दृष्ट' प्रभव के लिए युद्ध को नीति बनाया। ईसाइयत, इस्लाम और कम्यूनिज़्म, तीनों के लिए युद्ध एक ऐसी धर्म्य दिग्विजय की नीति रही है जिससे एक ऐसा नया मानव-व्याप्त समाज स्थापित होगा जो मनुष्य के सच्चे कल्याण का आधार बनेगा।

कारण अनेक हो सकते हैं, पर मनुष्य युद्ध करता ही है। एक बात हम देख सकते हैं : युद्ध में व्यक्ति नहीं समाज प्रधान होता है। युद्ध मनुष्य की समष्टि-चेतना को आक्रान्त-विशुब्ध करता है। व्यक्ति तो युद्ध से विरत हो सकता है, वह वासना-दिग्ध, युद्ध-नित्य मनुष्य-समष्टि से भी विरत हो जा सकता है (हालांकि संन्यासी समुदायों में भी युद्ध की प्रवृत्ति विरल नहीं है, कुंभ के मेले पर आज भी इसकी कुछ छटा देखने को मिल जाती है, ईसाई जेजुविट समाज तो बना ही युद्ध के लिए था।)

कहा जा सकता है कि धर्म-चेतना की प्रत्यक्-यात्रा, व्यवहार-नियम-नीति से उठ कर शील, प्रज्ञा के साथ ऋत-छंद हो जाना, यह व्यक्ति की ही संभावना और सम्पदा है, मनुष्य-जाति की, मनुष्य-समष्टि की नहीं। समष्टि तो व्यक्ति-संभावना को धरती भर देती है। यों युद्ध को किसी अर्थ में मनुष्य-समष्टि के लिए 'वैध' ठहराने की दिशा ली जा सकती है। पर यह ठीक नहीं होगा। हम देख आये हैं कि मनुष्य व्यक्ति और समष्टि चेतना के एक ही मोड़ पर उभरते हैं। व्यक्ति और समष्टि में तत्त्व-भेद करना, मनुष्यत्व को ही विभक्त कर देना होगा।

पर युद्ध में व्यक्ति और जाति का द्वंद्व भी तीव्र हो कर उभरता है। मनुष्य में युद्ध की सनातनता समष्टि-चेतना के भीतर ही मानो धर्म में नीति का विरोध-कंटक लिए आत्म-विषम सी जान पड़ती है। एक और बात पर ध्यान दिया जा सकता है यहाँ। किसी भी समाज में नीति के दो स्वभाव-विपरीत पक्ष देखे जा सकते हैं। इन्हें राज्य या सत्ता-शासन के ही दो अंतः-बहिः पक्ष कह सकते हैं। राज्य अपने शासित समाज में न्याय-धर्म की चिन्ता करता ही है—उसकी नीति इसकी उपेक्षा नहीं करती। समाज के भीतर किसी न किसी रूप में परस्पर-भाव का आधार अपरिहार्य सा होता है। कैसी ही क्रूर, निर्मम, नृशंस सत्ता हो, न्याय ही नहीं, प्रजा-हित की दृष्टि से भी रीती नहीं होती—दस्यु-समाज में भी समाज के अंतः इसका ध्यान रहता है। पर समाज के बहिः, दूसरे समाजों के साथ उसके व्यवहार में वंचना-दिग्ध, युद्ध-उन्मुख, परस्पर-भाव-हीन नीति का बीज निरंतर रहता है। व्यक्ति के

स्तर पर ऐसी नीति विरल होती है, और होती भी है तो परस्पर-भाव को मान कर ही बनती है, जैसे झूठ सत्य को। पर समाजों के बीच तो यह निसर्ग-सिद्ध सी जान पड़ती है।

पर यह विरोध, धर्म-चेतना के भीतर ही यह असामंजस्य, वैषम्य, तात्त्विक नहीं हो सकता। विरोध-परिहार का एक पुराना जातीय सपना (या आदर्श) रहा है, सत्-युग की कल्पना, जिसका हम उल्लेख कर भी आये हैं। इसके मूल में यह विश्वास है कि सत्ता या दण्ड, जिस पर राज्य टिकता है, वही धर्म में अपरस्पर-भाव की नीति का उत्स भी है और संकट भी। सत्ता एक व्यक्ति को दूसरे के लिए उपेय नहीं, उपादेय बना देती है। पर मनुष्य में सत्ता आगन्तुक भी है, चाहे अपरिहार्य लगे। सतयुग में सत्ता और दण्ड नहीं होते। व्यक्ति स्वभाव से ही स्वार्थ, स्वेच्छाचरण की स्वैरता से उठ कर शील, प्रज्ञा के साथ परस्पर-भावन करते हुए रहते हैं। राज्य अनावश्यक हो जाता है। व्यक्तियों में स्वार्थ का उभरना ही राज्य का मूल है। तब व्यक्तियों के बीच परस्पर-भाव को बनाये रखने के लिए ही नीति का अपनाव करना पड़ता है—दण्ड का प्रयोग करना पड़ता है। इसे सत्-समाज या बोधिसत्त्व समाज भी कह सकते हैं, यहाँ समाजों का भेद भी विगलित लगता है। इसे आत्मचेतना में निहित व्यक्ति-भाव, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामान्य-चेतना में निहित परस्पर-भाव का समागम भी कह सकते हैं। यह व्यक्ति की अपनी साध्यता के साथ समष्टि-व्यवहार की साध्यता का युगनद्ध आदर्श भी कहा जा सकता है। पर यह उपेयता का एक सपना ही है, इसे किसी परिणाम या परिस्थिति के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसकी कोई नीति बन ही नहीं सकती।

धर्म का आदर्श नीति से ऊपर उठना ही हो सकता है। पर है यह आदर्श ही, चाहे कभी कुछ वास्तव भी दिख जाता हो। पर इस आदर्श के बिना भी मनुष्य का व्यवहार मनुष्य का व्यवहार नहीं हो सकता।

(लेखमाला पूरी हुई)



काश्मीर शैव दर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका (गतांक से आगे)

नवजीवन रस्तोगी

हमें लगता है कि प्रत्यभिज्ञा आचार्य स्मृति की आन्तरिक संरचना इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि वह स्वयं गहरे स्तर पर प्रत्यभिज्ञा के रूप में उन्मिषित होती है। प्रत्यभिज्ञा की अनुसंधानात्मक ज्ञान के रूप में अवधारणा की गयी है। ध्यातव्य है कि स्मृति को इस अनुसंधान का प्राण कहा गया है। स्मृति तभी उपपन्न हो पाती है जब उसका विषय पूर्वानुभव का विषय हो—इस एकता के भान वाली स्थिति का नाम अनुसंधान है।¹⁷⁹ हमारी सारी लोकयात्रा उन ज्ञानों के आश्रित है जो इस स्मरणानुसंधान से जन्म लेते हैं।¹⁸⁰ अभिनव का मानना है कि 'अहं पश्यामि' (मैं देख रहा हूँ) रूप जो हमारा प्रथम प्रत्यक्ष है वह भी पूर्वपरानुसंधानरूप स्मरण से अनुप्राणित हुए बिना नहीं हो सकता,¹⁸¹ क्योंकि वहाँ पहले 'अहं' का तब 'पश्यामि', जिसका भी विषय 'अहं' है, का परामर्श होता है।¹⁸² क्योंकि प्रमाता में विश्रान्त हुए बिना तो प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं होगा।

इस प्रकार सारे अनुसंधानों का प्राण होते हुए भी बिना विषय के स्मरणानुसंधान सम्भव नहीं होता।¹⁸³ स्मृति में यह विषय पूर्वानुभव के भासन द्वारा ही सम्भव है। पूर्वानुभव में जो विषय है उसका रूप है 'बहिरिव-भासते (बाहर जैसा भासता है)।' पर वह तो पूर्व में था। इस समय स्मृति में उसका विमर्शन मात्र है। अतः स्मृति की परिभाषा है : विमर्श द्वारा गृहीत पूर्वदृष्टता, अर्थात् 'यह देखा जा चुका है इस भाव का,' जब वर्तमानकाल में फिर से विमर्शन होता है तब उसे सः (वह) कहते हैं।¹⁸⁴ यह व्याख्या बताती है कि अनुभव और विमर्शन के मध्य विरोध का समन्वय होता है, उस अहं के द्वारा जो विभिन्न कालों में घटित अनुभवों के मध्य ऐक्यानुसंधान करने में समर्थ है। प्रकाश-विमर्श समीकरण का आश्रय लेते हुए अभिनव इसे और भी समझाते हैं। विषयांश में प्रकाश का सम्बन्ध तो 'पूर्वकाल' से है। परन्तु विमर्श द्वारा गृहीत प्रकाश का सम्बन्ध हमारी चेतना के अंशभूत स्मरण से है जो काल से परिच्छिन्न नहीं है।¹⁸⁵ इस प्रकार स्मरणगत विमर्श का अनुभवगत विमर्श से योग होने में न कोई बाधा है और न इसके माध्यम से अर्थ या विषय के प्रकाश से योग होने में। इस प्रकार प्रकाश और विमर्श का यह एकीकरण स्मृति की अनुसंधानरूपता का आन्तरिक स्रोत बन जाता है। स्मृति में वस्तुतः क्या होता है इसका अभिनवगुप्त सूक्ष्म परीक्षण करते हैं। पूर्वानुभव के विषय का ग्रहीता प्रमाता परवर्ती काल में उस विषय का 'सः' रूप से विमर्शन करता है, तब हम कहते हैं कि प्रमाता 'स्मरण करता है।' ?¹⁸⁶ प्रश्न है कि यहाँ 'सः' विमर्श का रूप क्या है। न तो वह अहं रूप में अभेद परामर्श है और न इदं रूप में भेद परामर्श। अनुभवगत देश और काल से विशिष्ट परिमित प्रमाता की चेतना के साथ वह पृथक् विषय के रूप में अहंता में भी लीन नहीं होता, ऐसा होता तो तत्तद् विषय

का स्मरण न होता। अतः जब स्मृति नहीं होती उस समय वह विषय एक प्रकार से अज्ञान या विस्मृति के अन्धकार से आच्छादित होकर हृदय में संस्काररूप से बना रहता है। स्मृति, संस्कार रूप से स्थित इस विषय पर से अन्धकाररूप आवरण को केवल हटा देती है।¹⁸⁷ फलतः वह पूर्वकालीन विषय और उस काल का अनुभव दोनों स्मृति में भासित होते हैं पर साथ ही वर्तमान स्मरणकालिक परामर्श की प्रधानता होने के कारण वह अब 'इदं' रूप की जगह 'सः' या 'तद्' रूप से परामृष्ट होता है। पहले और पीछे इन दोनों परामर्शों की सहचेतना 'सः' परामर्श में प्रतिफलित होती है।¹⁸⁸ इसी कारण से यहाँ स्मरण को अनुसंधान भी कहते हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह देखने की है कि मलापसारण की जो प्रक्रिया हम ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में प्रमाण के व्यापार के सन्दर्भ में या पारतात्त्विक क्षेत्र में मोक्ष के सन्दर्भ में देखते हैं वही प्रक्रिया शैव दार्शनिक स्मृति के सन्दर्भ में भी अपनाते हैं। मोह को दूर करने के कारण यह प्रमाता की स्मृतिशक्ति कहलाती है।¹⁸⁹ दूसरी बात है कि 'स्मरति' या 'स घटः' का अर्थ है—'मैंने इस घड़े का अनुभव किया।' इससे हम अनुसंधाता और अनुसंधान की एकता पर पहुँचते हैं। क्योंकि वेदिता या स्मर्ता इस ऐक्य से अतिरिक्त नहीं है। स्मरण से स्मर्ता का अवभासन एक गहरी प्रत्यभिज्ञा है जिसे अभिनवगुप्त 'विस्मयगर्भा' प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।¹⁹⁰ इस प्रकार स्मृति में द्विचरणात्मिका प्रत्यभिज्ञा है — एक, तात्कालिक बाह्य पदार्थ का प्रकाश और इदंकालिक अंतर्मुख विमर्श¹⁹¹ इनकी प्रत्यभिज्ञा, और दूसरे 'मैंने अनुभव किया' इस रूप में अनुसंधान द्वारा अनुसंधाता की प्रत्यभिज्ञा।

इससे हम मूल प्रश्न पर आ जाँएँ। हमने देखा कि विमर्श में काल नहीं होता, कालस्पर्श होता है विषय अर्थात् प्रकाश में। स्मृति आन्तरिक संरचना में विमर्श है जो मल का अपसारण करती हुई कालानवच्छिन्न परामर्श करती है। स्मृति और अनुभव प्रमाणावस्था की ज्ञानप्रकारताएँ हैं, अनुत्तर में तो उनकी शक्तिरूपता है। चरम प्रत्यभिज्ञा में भी स्मृति और अनुभव का समीकरण प्रकाश और विमर्श के समीकरण के रूप से ही अपनी प्रमाणातीत भूमिका में अभिव्यक्त होता है।¹⁹² प्रमाणातीत स्मृति का सम्बन्ध प्रमाणातीत विस्मृति से करना होगा।¹⁹³ यह प्रमाणोत्तीर्ण आद्य विस्मृति परमशिव की तिरोधान शक्ति है। अतः अपना संकोच विस्मृति है और विकास प्रत्यभिज्ञान। अभेद में भेदन आद्य विकल्पन या तिरोधान है और भेद में अभेदन परम प्रत्यभिज्ञा या अनुग्रह। यही कारण है कि उत्पल भावित चित्त वालों के स्मरण को दृष्ट (दृश्यमान नहीं) अर्थ का प्रत्यक्षीकरण मानते हैं।¹⁹⁴ अभिनव बताते हैं कि आगम परम्परा में स्मृति ही मंत्र है और वही ध्यान है।¹⁹⁵ स्मृति की यह आध्यात्मिक संरचना ही प्रत्यभिज्ञा में उसके महत्त्व का कारण है।

फल, उपेय, पर्यन्त मूल्य

इस सारे व्यापार का फल या साध्य भी प्रत्यभिज्ञा है, यह प्रत्यभिज्ञा का चतुर्थ आयाम है। आदि श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने पार्यन्तिक प्रयोजन के द्वारा इसी का निर्देश किया है।¹⁹⁶ सम्प्रदाय की पारिभाषिक पदावली में तीनों प्रयोजनों को क्रमशः अग्र, मध्य और मूल कहा जा सकता है। इस प्रकार पार्यन्तिक प्रयोजन, मूल प्रयोजन, फल, उपेय या

चरम मूल्य सब एक ही अर्थ ध्वनित करते हैं। यह पर्यन्त मूल्य है समस्तसम्पत् रूप माहेश्वर्य लाभ या पारमार्थिक प्रमातृता का प्रकाशन, अर्थात् स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान। भारतीय दर्शन के व्यापकतर सन्दर्भ में हम इसे मुक्ति शब्द से व्यक्त करते हैं।¹⁹⁷

अभिनव इसे एक दृष्टान्त से समझाते हैं। जब वैद्य रोगी से कहता है 'आरोग्य की कामना वाले लोग हरीतकी (हड़) का सेवन करें' (आरोग्यकामाः शिवां सेवन्ताम्), तो विश्लेषण करने पर इस वाक्य की चार कक्षाएँ स्पष्ट प्रकट होती हैं। पहली कक्षा है, वाक्य-प्रयोग की। दूसरी कक्षा है, उत्तम या प्रथम पुरुष में अर्थबोध की—'मुझे हरड़ का सेवन करना चाहिए।' तीसरी कक्षा है व्यापार, प्रयत्न या क्रिया की—रोगी द्वारा हरड़ का सेवन और चौथी कक्षा है, आरोग्य या आरोग्य-लाभ की।¹⁹⁸ यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि चौथी कक्षा—आरोग्यलाभ—तो आगे भविष्य में घटित होगी, फिर भी चौथी कक्षा तीसरी कक्षा के अन्दर अर्थात् सेवनकाल में रोगी की चेतना में समायी रहती है। उसी से वह अर्थ सम्पूर्ण होता है अन्यथा रोगी की उस उपचार के प्रति रुचि नहीं रहेगी, फलतः वह उपचार का अधिकारी भी नहीं रहेगा। 'समस्तसम्पत्' यहाँ आरोग्य का स्थानी है और अन्वर्थतया महान् ऐश्वर्य (माहेश्वर्य) या परम ऐश्वर्य का वाचक है। पारमेश्वर्य है अपने को ईश्वर जानते हुए और ज्ञान, क्रिया को अपने से अभिन्नतया अपने में ही उपलब्ध करते हुए कर्ता और ज्ञाता होना। अभिनव के लिए यह पूरे प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का फलित है¹⁹⁹ और 'कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे (ई.प्र.का. 1.1.2) से प्रारम्भ होने वाली आत्माविष्करण-यात्रा का पर्यन्त बिन्दु भी।' 'पार्यन्तिक' शब्द द्वारा भक्तिमान्तर से शैव दार्शनिक द्वारा यह सिद्ध करने का ठोस दार्शनिक प्रयत्न है कि सारी प्रत्यभिज्ञाएँ शिव के 'आत्मप्रत्यभिज्ञान' के रूप में निहित हैं। चरम प्रत्यभिज्ञा को इसीलिए 'महाविमर्श' कहते हैं।²⁰⁰ इस अर्थ में प्रत्यवमर्श की 'प्रत्यभिज्ञा' से पर्यायता है : प्रति+अव+मृश् का अर्थ है—'उलटा अपना विमर्श करना।'²⁰¹

प्रयोजनों के तारतम्य-निर्देश से और विशेषतः पार्यन्तिक प्रयोजन की चर्चा से कुछ आधुनिक विद्वान् प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय द्वारा पल्लवित आत्म-प्रत्यभिज्ञान के आविष्करण को प्रयोजनमूलक मानने के पक्ष में हैं।²⁰² दृश्यमान् जगत् का अहंविमर्श की ओर लौटना अन्ततः उसके वास्तविक स्वरूप का आत्मप्रत्यभिज्ञान है। इस दृष्टि से सृष्टि का प्रत्यावर्तन और प्रयोजन एक ही बात है। परन्तु मुझे लगता है कि इस तरह की धारणा अतिसरलीकरण होगी। व्यवहार की दृष्टि से इस प्रक्रिया को प्रयोजनमूलक हम भले ही कह लें पर तत्त्वतः यह आत्मा के कर्तृत्व में अंतर्भूत है।²⁰² सृष्टि में स्वात्मरूप शिव का जगत् के रूप में अवरोहण अपने कर्तृत्व का प्रत्यभिज्ञान है और उपसंहार में आत्मा का शिव की ओर प्रत्यावर्तन आत्मा के ज्ञातृत्व का प्रत्यभिज्ञान है। लेकिन सृष्टि-प्रक्रिया 'के लिए' आत्मप्रत्यभिज्ञान और आत्मप्रत्यभिज्ञान 'के लिए' संहार-प्रक्रिया नहीं है, आत्मप्रत्यभिज्ञान का अर्थ ही है चेतना की अविच्छिन्न धारा, जिसमें हमारी जीवन-यात्रा और सामान्य अनुभव, आद्य विश्रान्ति और पार्यन्तिक विश्रान्ति (जो अहंविमर्श होने के नाते एकरूप हैं) के मध्य बीच का पड़ाव मात्र है।²⁰⁴

प्रत्यभिज्ञा को अभिनवगुप्त महाफल कहते हैं। महाफल कहने का विशेष प्रयोजन है कि फल के प्ररोह की दिशा उभयमुखी है। अर्थात्, मनुष्य की ईश्वरविषयक प्रत्यभिज्ञा और ईश्वर की मनुष्यविषयक प्रत्यभिज्ञा।²⁰⁵ ईश्वर और मनुष्य के बीच जो प्रत्यभिज्ञामूलक सम्बन्ध है, अर्थात् स्वामी जब अपने को पहचानता है तब सम्बन्ध है प्रत्यभिज्ञातृ-प्रत्यभिज्ञेयता रूप। और जब मनुष्य से कहा जाता है कि तुम स्वामी को पहचानो तो वह प्रत्यभिज्ञापयितृ-प्रत्यभिज्ञाप्यतारूप सम्बन्ध है।²⁰⁶ अर्थात् आत्मप्रत्यभिज्ञानपूर्वक जनप्रत्यभिज्ञान सम्पूर्ण प्रत्यभिज्ञान बनता है। पूर्ण प्रत्यभिज्ञान समस्त सम्पत्तियों की प्राप्ति का हेतु होने के नाते महाफल है।²⁰⁷ आदि श्लोक में उपात्त दास्य और समग्र ऐश्वर्य की प्राप्ति दोनों को उत्पल एक ही मानते हैं, यह अभिनवगुप्त के व्याख्यानों से पता चलता है। दास वह है जिसे स्वामी अपना सब कुछ दे देते हैं। अतः परमेश्वराकार स्वातन्त्र्य के प्रति यह पात्रता-आसादन है।²⁰⁸ ईश्वर और जन की यह पारस्परिकता गुरु और शिष्य, शास्त्रकार और पाठक, कारिकाकार और टीकाकार सबमें संक्रान्त होती है। इसीलिए अभिनव आगमों में प्रतिपादित महाव्याप्तिभावना का तात्पर्य इसे ही मानते हैं।²⁰⁹ दास्य शब्द के प्रयोग द्वारा उत्पल प्रत्यभिज्ञा के अर्थ को एक नया विस्तार देते हैं। दास्य भक्ति को प्रत्यभिज्ञानमयी मानकर वह भावगोचरता और तर्कगोचरता के मध्य पड़े तथाकथित पर्दे को हटा देते हैं और इस बात की उद्घोषणा करते हैं कि भाव भी ज्ञान दे सकता है। समग्रता की उपलब्धि में जो आस्वाद है वही समावेशमयी भक्ति है और वही मोक्ष।²¹⁰ कविराज जी ने प्रत्यभिज्ञा के इस पक्ष पर गंभीर चर्चा की है, हमने इस पर अन्यत्र विचार किया है।²¹¹ वस्तुतः कारिका, वृत्ति और विवृति के महान दार्शनिक और शिवस्तोत्रावली के भावविह्वल भक्त उत्पल ने अपने जीवन से इसे प्रमाणित किया था।

प्रत्यभिज्ञा को दास्य और दास्यभक्ति को समावेश कहकर शैव दार्शनिक तान्त्रिक परम्परा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यय समावेश को प्रत्यभिज्ञा विचार-प्रणाली का अंग बना देते हैं। काश्मीर के कापालिकों से²¹² यह प्रत्यय मालिनीविजयोत्तरतंत्र के माध्यम से आता है।²¹³ समावेश की धारणा को समझाते हुए उत्पल कहते हैं कि सांसारिक प्राणी : पशु प्रमाता :, के क्रमशः देह, बुद्धि, प्राण और शून्य अंशों से तादात्म्य होने के कारण उसके मूलभूत व्यक्तित्व के दोनों पक्ष-स्वातन्त्र्य और बोध, क्रिया और ज्ञान - संकुचित होने के कारण देह आदि की तुलना में गौण होकर पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। यही वस्तुतः दो प्रकार का आणव मल हमारे व्यक्तित्व का आद्य संकुचन है।²¹⁴ गुरु के उद्बोधन आदि से इस सम्बन्ध का विपर्ययन अर्थात् शून्य, प्राण, बुद्धि और देह का मौलिक ज्ञानक्रियात्मक स्वभाव के सामने गुणीभूत हो जाना समावेश कहलाता है।²¹⁵ समावेश है कर्तृता और बोध रूप संवित् में डूब जाना। इस प्रकार यह ज्ञान की प्रकृति को परिभाषित करता है। समावेश में विश का साधारण और प्रेरणार्थक दोनों अर्थों में ग्रहण²¹⁶ समावेश की दोहरी प्रवृत्ति का परिचायक है-पूरी तरह से प्रवेश करना और पूरी तरह से घेर लिया जाना, आविष्ट कर लिया जाना। आवेशन व्यक्तित्व के आमूल चूल आन्तरिक परिवेष्टन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया

का द्विमुखत्व ठीक प्रत्यभिज्ञा जैसा है। प्रत्यभिज्ञा और समावेश की पर्यायता में उत्पल का अभिनिवेश इसी से सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में की गयी प्रत्यभिज्ञा के उपपादन की प्रतिज्ञा की सिद्धि वे अपनी शिवतामयी विश्वकर्तृता के आवेश में देखते हैं।²¹⁷ यहाँ यह प्रवेश जिज्ञासु या मनुष्य का शिव की सत्ता में है। समावेश की धारणा उत्पल अपने गुरु सोमानन्द से लेते हैं। शिवदृष्टि के मंगलाचरण में ग्रन्थकार उस शिव को प्रणाम करते हैं जो प्रमाता या पाठक या ग्रन्थकार के अस्तित्व में आविष्ट है।²¹⁸ यह प्रक्रिया शिव की ओर से मनुष्य की शिवतामयी सत्ता में प्रवेश की है। सोमानन्द वस्तुतः शिवरूपता की पहचान उसकी अपनी शक्तियों के द्वारा आवेश में करते हैं। सारे ज्ञानाचार्यों, सारे विषयाचार्यों में शक्ति के आवेशन के द्वारा ही उनकी शिवरूपता का अभिज्ञान सम्भव है।²¹⁹ इस आवेशन को उत्पल चिद, आनन्द इत्यादि पंचशक्तियों की समरसता मानते हैं।²²⁰ समावेश की मात्रा से सिद्धि का सम आनुपातिक सम्बन्ध है — जिस सीमा तक भिन्न प्रमेयों में शिवत्व का समावेश पाते हैं उसी सीमा तक सिद्धि सम्भव है। अर्थात् समावेश का निरन्तर दृढीकरण होते रहना चाहिए। विमर्शिनी और विवृतिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त समावेश के आधार पर दो प्रकार की जीवन्मुक्ति का निरूपण करते हैं।²²¹ जीवन्मुक्ति इसलिए कि देहपात के बाद तो केवल एकघन शिवता ही बचती है। वहाँ कौन किसमें समावेश करेगा?²²² पहले प्रकार में समावेश का अर्थ है 'सत्य के स्वरूप में पूरा और चारों ओर से ज्ञानात्मक प्रवेश', उस ज्ञान को पाकर व्यक्ति ज्ञानी और इसके अभ्यास से योगी हो जाता है।²²³ बुद्धि, देह, प्राण आदि में व्यापकत्व, नित्यत्व आदि, अनन्त संविद्धर्मों के आसादन से योगी को तुर्यातीत दशा की प्राप्ति होती है। इस परामर्श के बल से शून्यादि रूप कल्पित व्यक्तित्व से निकलकर अहंभाव ऊपर आकर उतराने सा लगता है, 'सा' इसलिए क्योंकि शून्य आदि का संस्कार बना रहता है। इस स्थिति की तुलना अभिनवगुप्त अव्यतिरेक तुर्यातीत से करते हैं।²²⁴ उसके अनुसार उत्पल इसको 'विशेषदर्शनों' अर्थात् शाक्ताद्वैतवादी दर्शनों की विशेषता मानते हैं जो आत्मा का लक्षण शक्ति को स्वीकार करते हैं। फलतः 'सामान्यदर्शन' वालों की स्थिति भिन्न है जो शुद्ध चैतन्य रूप सर्वोत्तीर्ण, मात्र प्रमाता को ही स्वीकार करते हैं।²²⁵ स्वाभाविक है कि सामान्यदर्शनों का तुर्यातीत 'व्यतिरेकतुर्यातीत' कहलाएगा। दूसरे प्रकार के समावेश में शक्तिरूप संविद्धर्म धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा संकुचित व्यक्तित्व के निर्मायक तत्त्वों में पूरी तरह आविष्ट होते हुए तमाम सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, जैसे तांबे के बर्तन में रखा गया पारा धीरे-धीरे तांबे के बर्तन को सोने में बदलने लगता है। इसे तुर्या स्थिति कहते हैं।²²⁶ बिना अभ्यास के भी तत्क्षण आवेश में आनन्द, उद्भव, कम्प आदि संविद्धर्मों के धीरे-धीरे प्रकट होने से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। यहाँ शून्यादि मानो अपनी प्रमेयता छोड़ने लगते हैं। इस प्रकार देहाभिमान के स्पर्शवाली अवस्था तुर्या है, और देहादि के अभिमान के स्पर्श से अछूती दशा तुर्यातीत है।

दोनों प्रकार के-तुर्यातीत और तुर्य-समावेश को क्रमशः पर और अपर सिद्धि कहा गया है। आदिश्लोक में आये 'समस्तसंपत्' का यह अन्वर्थ विनियोग है।²²⁷ परसिद्धि है

पूर्णतात्मक जीवन्मुक्ति और अपरसिद्धि है समावेश के अभ्यास से विभूतियों या परमेश्वर के ऐश्वर्य का क्रमिक उन्मीलन।²²⁸ महाफल कहकर इस समीकरण को अभिनव अनवद्य घोषित कर देते हैं।²²⁹ इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वेद्यता के निमज्जनपूर्वक स्वरूपोन्मेषी प्रत्येक अनुभव अपर सिद्धि या विभूतिरूप है और उसकी एक ही दिशा है : संकुचित व्यक्तित्व देह आदि के किसी एक अंश का, दो अंशों का या सभी का निमज्जन और पर्यन्ततः महाविभूति का लाभ। इस अर्थ में मुक्ति और महाविभूति एक ही है।²³⁰

मुक्ति और विभूति, मुक्ति और ऐश्वर्य के तादात्म्य की पृष्ठभूमि में तंत्रों का एक प्रसिद्ध वैचारिक समीकरण कार्यरत है। शैव दार्शनिकों ने मोक्ष की अवधारणा भोग और मोक्ष के सामरस्य के रूप में की है।²³¹ आत्मरूप परमेश्वर के वैभव का उन्मीलन, अपनी स्वातन्त्र्यरूपता की क्रमिक उपलब्धि, ही भोग है। लौकिक उपमान की रक्षा करते हुए अभिनव उत्पल का अनुगमन करते हुए प्रत्यभिज्ञा को मुक्ति और दास्य को लक्ष्मी की संज्ञा देते हैं।²³² इतना ही नहीं, वे स्पष्ट शब्दों में परसिद्धि प्रत्यभिज्ञा को मोक्षपरक और अपरसिद्धि विभूतिलाभ को भोगपरक घोषित करते हैं।²³³

प्रत्यभिज्ञा की अवधारणा के निरूपण में शैव दार्शनिक जिस विचारसरणि का आश्रय लेते हैं, समावेश के प्रतिपादन में ठीक उसी की समानान्तरता दिखायी देती है। महाफल की दास्यरूपता के प्रसंग से समावेश के प्रत्यय का आसूत्रण हुआ था। प्रत्यभिज्ञावादियों का बद्धमूल विश्वास है कि समावेश की प्राप्ति ही सारे ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और आध्यात्मिक उद्यम का स्रोत है।²³⁴ सारी उपासना, सारी भक्ति समावेश का ही पल्लवन है। सारी भक्ति-साधना का, विशेष कर दास्य भक्ति का, ठीक वही रूप है जो समावेश का। अर्थात् अपने सीमित अस्तित्व का गुणीकरण और परमेश्वर के स्वरूप की प्रधानता का आपादान।²³⁵ यही भक्ति का प्रह्वीभाव है। कल्पित व्यक्तित्व के निरन्तर प्रगुणीकरण द्वारा चेतना के मलहीन स्वरूप की प्राप्ति ही भगवान् का अनुग्रह है, प्रसाद है। वही वस्तुतः भगवत्ता है और मोक्ष तदाकारता ही है।²³⁶

अभिनवगुप्त सारे प्रत्यभिज्ञा-निर्णय की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। यदि आत्मा नामक वस्तु शिवरूप है तो प्रत्यभिज्ञान होने, न होने से उसकी शिवाकारता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः आत्मा ईश्वर है इस प्रत्यभिज्ञान में कोई व्यावहारिक, यौक्तिक या प्रयोजनमूलक बाध्यता नहीं है। अपने उत्तर में अभिनवगुप्त अर्थक्रिया को दो प्रकार का मानते हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य का सम्बन्ध विषय आदि से है और आन्तरिक का प्रमाता या विषयी से। बीज पहचाना जाए या न पहचाना जाए, कारण सामग्री के होने पर वह अंकुर को अवश्य जन्म देगा। अंकुरण एक प्रकार की बाह्य अर्थक्रिया है, यहाँ एक प्रकार की यान्त्रिकता है, अतः प्रत्यभिज्ञान²³⁷ ऐसे स्थलों पर आवश्यक नहीं है। परन्तु प्रसन्नता या संतोष जैसी आन्तरिक अर्थक्रियाओं के स्थल में प्रत्यभिज्ञान की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।²³⁸ आन्तरिक अर्थक्रियाएँ अनिवार्यतः प्रमातृनिष्ठ होती हैं अतः स्वरूपतः आत्म-विमर्शनात्मक होने के कारण प्रमाता के सुख, दुःख, वितृष्णा आदि रूपों

में प्रकट होती हैं। 'सोऽयं'—यह वह है—जहाँ, इदंता और तत्ता का तादात्म्य प्रधानतया गोचर है और 'सोऽहम्'—मैं वह हूँ—जहाँ अहंता और सामान्य इदंता का तादात्म्य प्रतीयमान है, जैसे स्थल अनिवार्यतः प्रत्यभिज्ञानात्मक हैं। क्योंकि जहाँ पहले में हमें प्रसन्नता की प्रतीति है (यहाँ हमें विषयिभेद से सुख, दुःख किसी भी भाव की प्रतीति हो सकती है), दूसरे में हमें पूर्ण आनन्द मिलता है। इसका सीधा सा अर्थ है प्रत्यभिज्ञान से उपजने वाली विषयिगत प्रतिक्रियाएँ अन्य ज्ञानों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं से भिन्न हैं। ये प्रतिक्रियाएँ ही प्रत्यभिज्ञा की सार्थकता को प्रमाणित करती हैं। अभिनव एक महत्त्वपूर्ण व्याप्ति यहाँ बनाते हैं—प्रमाता के आत्मविमर्शन या स्वविषयक आस्वादन पर जो अर्थक्रियाएँ निर्भर करती हैं वे बिना प्रत्यभिज्ञान के सम्भव नहीं हैं।²³⁹ अतः 'सोऽहं', 'अहं महेश्वरः' इन स्थलों पर जहाँ समग्र सत्ता आत्ममयी है, इस प्रकार की आत्म-प्रत्यवमर्शात्मक विश्रान्ति के कारण जीवन्मुक्तिमयी और विभूतिमयी अर्थक्रिया के कारण ईश्वर-प्रत्यभिज्ञान अपरिहार्य है।²⁴⁰

प्रमातृविश्रान्ति को आन्तरिक अर्थक्रिया का प्रमाणतत्त्व बताने के पीछे अभिनव का आग्रह यह इंगित करने में रहा है कि प्रत्यभिज्ञान को केवल ज्ञानमीमांसीय चौखटे में रखकर नहीं देखा जा सकता। प्रत्यभिज्ञान केवल वस्तु-बोध ही नहीं देता, वह वस्तु को हृदयंगम कराता है। यह स्मरण कराना अस्थाने न होगा कि प्रत्यभिज्ञा के अवयव 'अभि' का एक अर्थ हृदयङ्गमीभाव भी है।²⁴² हृदयङ्गम होने का अर्थ है कि बोध का बुद्धि के स्तर से हटकर हृदय के स्तर पर आना। यह तभी सम्भव है जब प्रमाता की चेतना आश्वस्त होती है कि वस्तु-बोध सम्पूर्ण है, कुछ भी छूटा नहीं है। अज्ञान में कुछ अंश छिपा या अदृष्ट रह जाने के कारण हमेशा मन में बेचैनी का भाव बना रहने के कारण पूर्णतासाध्य चित्तविश्रान्ति रूप अर्थक्रिया सम्भव नहीं हो पाती इसलिए 'प्रमातृविश्रान्तिसारा' का अर्थ है 'पूर्णतावभासनसाध्या'।²⁴² यह प्रत्यभिज्ञा से ही सम्भव है, जिसका कारण उसकी अनुसंधानात्मकता में निहित है। हृदयङ्गमतापूर्वक पूर्णताबोध एक जीवन्त प्रक्रिया है जो एक प्रतिक्रिया-शृंखला को जन्म देती है, जिससे प्रत्यभिज्ञानात्मक अनुभव सम्पन्नतर बनता है। उत्पल ने नायिका द्वारा कान्त के प्रत्यभिज्ञान का जो दृष्टान्त दिया है उसमें अभिनव प्रदर्शित करते हैं, कि दूती के बताने या किसी 'अभिज्ञान' (पहचान/पहचान-चिह्न) से नायिका जैसे ही अपने प्रेमी को पहचानती है, तुरन्त उसके उत्तम गुण बड़ी हार्दिकता से उसे याद आते हैं, मन में अनिर्वचनीय भरापन (पूर्णता) उमगने लगता है और कान्त के साथ सहवास के अन्तरंग क्षणों में न जाने कितनी और विश्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। ठीक वैसे ही गुरु के वचन या ज्ञान और क्रिया-शक्ति के अभिज्ञान द्वारा जैसे ही परमेश्वर के गुणोत्कर्ष में मन रमता है, उसी क्षण पूर्णतात्मक जीवन्मुक्ति और समावेश के अभ्यास-रस से पूरे विश्व को अपने अधीन करने वाली विभूति की प्राप्ति हो जाती है।²⁴³ सांख्य के अचेतन परिणामवाद के प्रसंग में अभिनवगुप्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं कि सांख्य की प्रकृति में यदि परिणमन-कर्तृता मान भी ली जाए तो भी उसका स्वातन्त्र्य उभयमेलनात्मक अर्थात्

प्रत्यभिज्ञानात्मक रस से शून्य है, इसीलिए सांख्य के कार्यकारणभाव को अभिनव 'शुष्क' कहते हैं।²⁴⁴ अभिनव की यह टिप्पणी हमें प्रत्यभिज्ञा के एक भिन्न और व्यावर्तक आयाम की ओर ले चलती है और वह है उसकी अविनाभूत आनन्दात्मकता। प्रत्यभिज्ञान मन को आर्द्र बना देता है, यह आर्द्रता है जो मल के निकल जाने से आती है। फलतः यह सरस, आर्द्र, मलरहित चित्त विश्वरूप परमेश्वर के समावेश के लिए उपयुक्त मनोभूमिका प्रस्तुत करता है।²⁴⁵ इस पीठिका के साथ अभिवगुप्त पर और अपर दोनों सिद्धियों की आनन्दात्मकता को रेखांकित करते हैं। दोनों स्थितियाँ आनन्द के द्विविध उन्मेष हैं। महाकवि प्रसाद की 'लीला का स्पन्दित आह्लाद' (कामायनी, दर्शनखण्ड) सम्भवतः यही व्यंजित करता है। जीवनमुक्ति तो प्रत्यभिज्ञान मात्र से होने वाली विशुद्ध आनन्द की स्थिति है और विभूति योग निरन्तर परिशीलन से क्रमशः उन्मीलित सहस्रों भोगों की।²⁴⁶ पहली स्थिति पूर्वदृष्ट या भात के ऊपर पड़े मोहावरण के हटने के साथ-साथ अनिवार्य रूप से होती (नान्तरीयक) है, और दूसरी भात होने पर भी बिना भात जैसी है। वहाँ हमें प्रत्यभिज्ञा निश्चय के दृढीकरण के द्वारा वैसा अभिमान कराती है।²⁴⁷ प्रत्यभिज्ञा को स्फुटतर बोध कहे जाने का यही अर्थ है।²⁴⁸ जीवनमुक्ति का सम्बन्ध दर्शन और साधना से जोड़ा जा सकता है और विभूति या भुक्ति का दर्शनतर सांस्कृतिक व्यापारों से। कला, काव्य, साहित्य इसी अर्थ में विभिन्न रूपों में अन्तर्व्याप्त अपने स्वरूप का निरन्तर परिशीलन हैं और एतज्जन्य सारे बोध स्फुटतर बोध की ही विभिन्न भंगिमाएँ हैं और ये सारे बोध तत्त्वतः आनन्दात्मक हैं।

काश्मीर के शैव दार्शनिकों का प्रत्यभिज्ञान-चिन्तन ज्ञानविषयक हमारे चिन्तना-प्रकार को मौलिक रूप से परिवर्तित कर देता है। प्रत्यभिज्ञा को आत्मलाभ का एकमात्र उपाय मानने और सारे ज्ञानों को अन्ततः प्रत्यभिज्ञा के साँचे में निगमित करने के पीछे एक दार्शनिक सोच है। मानसिक व्यापार दो प्रकार का हो सकता है—एक, ज्ञानात्मक और दूसरा, प्रत्यभिज्ञानात्मक। पहली प्रक्रिया एक विषय को चुनकर उसका अध्यवसान करने में निहित है। एक का चयन करने का अर्थ है तदितर का तिरस्कार, उपेक्षा या निषेध करना। दूसरी प्रक्रिया, प्रत्यभिज्ञान, इससे भिन्न है। यहाँ कोई चयन या व्यावृत्ति नहीं है। यह पूर्ण स्वीकार की स्थिति है जहाँ पिछले अनुभव का अनुमोदन है और एक जीवित प्रक्रिया के रूप में घटित की पुनरावृत्ति है। अनुभूति का विखण्डन न होकर नैरन्तर्य है। इसी को प्रत्यभिज्ञावादी पारिभाषिक तौर पर अनुसंधान शब्द से व्यक्त करते हैं।

भारत के सारे दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा आश्रित प्रक्रिया प्रायः ज्ञानात्मक है। अतः आत्मोपलब्धि या मोक्ष को सामान्यतः ज्ञान या अनुभूति रूप माना जाता है। फलतः अनुभव के एक विषय (आत्मा) का स्वीकरण या अभ्युपगम होता है और अन्य (अनात्म) का निषेध या तिरस्कार होता है। उदाहरण के तौर पर वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में ब्रह्म की एकता का अभ्युपगम है, पर सर्व की सर्वता का निषेध है। इसके विपरीत, प्रत्यभिज्ञा में सभी पदार्थ शिवतया एक हैं। पर उनकी सर्वता भी सत् है। यही नहीं, यहाँ सर्व

भी सर्वात्मक है। अर्थात् एक एकतया भी सत् है और सर्वतया भी, और इसी प्रकार सर्व सर्वतया भी सत् है और एकतया भी। शिवदृष्टि की प्रसिद्ध घोषणा है 'एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता (1.48-49)।' इस प्रकार यहाँ बाध, निषेध, तिरस्कार, अपोहन सब अप्रासंगिक हो जाते हैं। प्रकृत विश्लेषण हमें एक दूसरी दिशा में ले जाता है। सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि विभिन्न सम्प्रदाय केवल एक सीमा तक ही जाते हैं। सांख्य में यह पुरुष का अकेलापन (कैवल्य) है, योग में चित्तवृत्तियों का उपराम (निरोध) है, न्याय में आत्मा का अपने में अवस्थान (स्वस्थता) है, और वेदान्त में अविद्या-निवृत्ति। स्वरूपलाभ की प्रक्रिया मोटे तौर पर प्रायः सभी दर्शनों में एक है—आत्मा और अनात्मा में विवेक करना। कहीं यह विवेक निषेधरूप है और कहीं निषेध जैसा है। आपस में इन दर्शनों में आत्मा या अनात्म के स्वरूप और इन दोनों के मध्य अन्तःक्रिया के स्वरूप को लेकर मतभेद हो सकता है पर एक बात में सब सहमत हैं कि आत्मतत्त्व के अनात्मतत्त्व से भेदनपूर्वक ही मुक्ति प्रतिफलित होती है। यह सारा मनोभौतिक संस्थान और आनुभविक जगत् अनात्मा का प्रतीक है, आत्मा में समवेत है, या अध्यस्त या प्रतिबिम्बित या अन्य प्रकार से तदात्मकृत है। इसलिए दोनों तत्त्वों का भेदन कहीं निषेधाकार है और कहीं निषेध-जैसा। इस प्रकार मुक्ति अनात्म के निषेध या न्यग्भाव का नाम है।

इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा में स्वरूपबोध दो विरोधी बिन्दुओं — शिव और शक्ति — के समन्वय में है। सारा अनात्मजगत् शक्ति से एक रूप है जो कि चेतना के आत्मनिषेधन व्यापार का प्रतिफलित-रूप है। इसलिए यहाँ स्वरूप-लाभ का अर्थ आत्मा और अनात्म, दो के सामरस्य से है, न कि एक के निषेध से।²⁴⁹ इसलिए अद्वैत शब्द का अर्थ यहाँ 'द्वैत का निषेध' न होकर 'सामरस्य', सामस्त्य, या 'पूर्णता' से लिया गया है। कूटस्थता और परिणामिता, धर्मिचेतना और धर्मचेतना, द्रव्य और व्यापार की दो धाराओं का चितिकर्तृता और चित्क्रिया²⁵⁰ के रूप में समन्वय प्रत्यभिज्ञा की पूर्णतावादी प्रवृत्ति का निदर्शन कराता है।

फलतः हमारे सांसारिक अनुभवों का उच्चतर अनुभवभूमियों में उदात्तीकरण सम्भव हो पाता है। काश्मीर शैव दर्शन में इसकी पारिभाषिक संज्ञा विकल्पसंस्कार है।²⁵¹ विकल्प-बुद्धि में अनात्म का आत्मतया नैरन्तर्य क्रम में इतना सघन अनुशीलन कि विरोधी अर्थात् आत्मा को अनात्मतया ग्रहण करने वाला विकल्प अंकुरित न होने पाए। उदात्तीकरण की इस प्रक्रिया की परिणति अपनी निर्विकल्प संवित् के उदय में होती है।²⁵² यहाँ विकल्प-संस्कार एक वास्तविक सम्भावना है, क्योंकि यहाँ विकल्प निर्विकल्प का विरोधी नहीं बल्कि उसी की अभिव्यक्ति है। विकल्प और निर्विकल्प दोनों की समरसता है, अतः अनुभव का प्रत्येक स्तर स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान की ओर एक कदम है, जहाँ दोनों ही विरोधी सत् हैं, विहित हैं, और परस्पर समंजस हैं। जहाँ दोनों अहंता और इदंता एक-दूसरे का निषेध नहीं करते बल्कि एक-दूसरे में अपनी परिपूर्णता खोजते हैं।

प्रत्यभिज्ञा इस उपलब्धि की व्याख्या भी है और उसका तर्क भी।²⁵³ दो विरोधी ध्रुवों की एकता प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि उसी के माध्यम से अनुभवजगत् का दृश्यमान भेद तादात्म्य

में पर्यवसित होता है। अतः प्रत्यभिज्ञान अनुवाद या पुनरुक्तिमात्र नहीं रहता—प्रत्यभिज्ञानात्मक बोध से नये अंश का उदय होता है। आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध दृष्टान्त के सहारे से कहा जा सकता है कि साल भर देखे जाने वाले वृक्ष जैसे वसन्त में बिल्कुल नये लगते हैं, जैसे हमारे चिर परिचित सारे के सारे अनुभूत विषय रस के स्पर्शमात्र से नये प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही प्रत्यभिज्ञा हमारे अनुभव में एक नयेपन का आधान करती है।²⁵⁴ यह अपूर्वता और कुछ न होकर प्रस्तुत में अतिशय का विधान (प्रेडिकेशन) मात्र है। यहाँ अपूर्वता, यह नया अंश, अपनी पुनर्व्याख्या या प्रत्यवमर्शन है जो एक ही विचार-विषय के विविध अवस्था-भेदों के मध्य ऐकात्म्यबोध में प्रतिबिम्बित होता है—सनातनो नित्यनूतनः। साम्प्रदायिक शब्दावली में यही स्वरूपबोध या दो विरोधी बिन्दुओं का समरसन है।

तान्त्रिक विचार-सम्पदा के चरम मूल्य के रूप में प्रत्यभिज्ञा तान्त्रिक संस्कृति के मौलिक आयामों का उद्घाटन करती है। उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा है कि प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय के द्वारा शिवाद्वयवादी आचार्य समग्र ज्ञानप्रक्रिया को प्रत्यभिज्ञानात्मक सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में सारी सृष्टिप्रक्रिया, सारी सत्तामूलक प्रक्रिया, सारी कारणात्मक प्रक्रिया, अर्थबोध की प्रक्रिया, जागतिक व्यवहार की प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञानात्मक ठहरती है। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तंत्रेतर विचारधारा जहाँ अपनी परमार्थमीमांसा में विवेकमूला है, अर्थात् आत्मा और अनात्म के भेदन पर आश्रित है, प्रत्यभिज्ञा की परमार्थदृष्टि सामरस्यमूला है, जहाँ अहंता और इदन्ता एक-दूसरे से समंजस हैं। तंत्रेतर ज्ञानमीमांसाओं का आधार अध्यवसान या तदितरपरिहारपूर्वक निश्चय है, प्रत्यभिज्ञा-ज्ञानमीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया अनुसंधानमूला है जो विरोध और भेद में आन्तरिक अन्विति की खोज करती है। निष्कर्षतः तंत्रेतर समाजदर्शन या जीवनदृष्टि वर्ण, लिङ्ग आदि का परिहार करती हुई व्यावृत्ति या अलगाव को प्रश्रय देती है, तान्त्रिक जीवनदृष्टि सभी का समाहार करती हुई अनुवृत्तिमूलक सिद्ध होती है। कविराज जी के शब्दों में वैदिक संस्कृति का मूल स्वर है संन्यास, त्याग, जब कि तान्त्रिक संस्कृति का है अभ्युपगम, अङ्गीकार। एक अपनी एकलता में खण्डनमयी, वर्जनामयी, निषेधात्मक है दूरी अपनी सकलता में निरवच्छिन्न, मंडनात्मक और सकारात्मक। इन सबकी धुरी है प्रत्यभिज्ञा।

प्रश्न है कि क्या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का कोई समसामयिक सन्दर्भ भी है? हम इसका उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा करेंगे।

एक अतिक्रामी दर्शन, विशेषतः प्रत्ययवादी दर्शन, का परमार्थ सत् कालातीत होता है जबकि समसामयिकता का सम्बन्ध कालखण्ड से है। आपाततः दोनों में विरोध है। यही बात इतिहास के साथ है। इतिहास सत्य को कालिकता के आवरण में लपेटता है जब कि दर्शन का सत्य निरवच्छिन्न और नित्य है। सन्दर्भ-भेद से यह विरोध अनेक स्थलों पर दिखायी देता है। अपने अत्यन्त निकट रामजन्मभूमि/बावरी मस्जिद के सन्दर्भ में देखें तो, कालजयिनी आस्था जो स्वयं साक्षी है और घटनानिष्ठ साक्ष्य पर झूलती निष्ठा जिसका

सम्बन्ध इतिहास से है, इन दोनों का विरोध राष्ट्रीय जीवन में कटुता बो रहा है। दंभ की नींव पर चलते समय-सापेक्ष स्वार्थ के प्रति तर्क की दासता और देशकालोलुंघी मानवीय गरिमा के बीच का विरोध ईराक के बहाने पूरी मानवता को युद्ध में झोंक रहा है। अपने मूल से विच्छिन्न, अपने ही रस से वंचित, अपने में विखण्डित, आत्मविरोध से ग्रस्त कभी हम सभ्यताओं के संघर्ष को आप्तवचन के रूप में श्रद्धापूर्वक मान्यता देते हैं और कभी अपने ही देश में, समकालीन कालखण्ड में, पूरी जाति को काश्मीरी पण्डितों की भाँति विस्थापित और प्रवासी हो जाने देते हैं और इस प्रक्रिया में अभिनवगुप्त जैसे महाप्राण मनीषी और उनसे जुड़ी, शताब्दियों से जुगोई, सारी वैचारिक धरोहर को ही उस भू-भाग से निष्कासित कर देते हैं जहाँ से उसने हमारी सांस्कृतिक अस्मिता और बौद्धिक जिजीविषा को आलोड़ित किया था और हम संवेदना-शून्य होकर आत्मघाती क्लीव सिद्धान्तों और भरोसों की फसल काटते चले जाते हैं। प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द से प्रेरित कामायनी के कवि प्रसाद ने सम्भवतः यही सब देखकर लिखा था—

जीवन सारा बन जाए युद्ध।

उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जाए सभी जो भाव शुद्ध।

अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध।

अपने को आवृत्त किये रहो, दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप

हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध।

सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध। (इडा, पृ. 166)

मुझे लगता है कि प्रत्यभिज्ञा आज के सन्दर्भ में भी एक विचारणीय प्रतिमानक है। चेतना, स्वातन्त्र्य और मूल्य—ये तीनों किसी भी सांस्कृतिक चिन्तन की केन्द्रीय धारणाएँ हैं। स्वतन्त्र चेतना के अतिरिक्त मूल्य का कोई उद्गम नहीं है। प्रत्यभिज्ञा में सत् की भावना स्वतन्त्र, पूर्ण और समरस सत् के रूप में की गई है। इसका अर्थ सत् को एक जटिल, आत्मनिष्ठ क्रिया से स्पन्दित, और विरोधियों के मध्य स्वतन्त्र आन्तरिक व्यवस्था से समरस पूर्ण के रूप में प्रस्तुत करके प्रत्यभिज्ञा हमारे प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करती है। प्रत्यभिज्ञा अनुभव की अभ्युपगमपूर्वक व्याख्या के द्वारा, चेतना के रूप में प्रदत्त सत् के विमर्शन द्वारा, वीक्षा की अन्वीक्षा द्वारा ज्ञान में, क्रिया में, अस्तित्व में पूर्णता की खोज है। सामरस्य या समन्वय इस अर्थ में मूल्यानुसंधान की प्रक्रिया है कि सत् स्वयं अपने ही विकास और संकोच, अपने ही विमर्श से अपना विषयन करता हुआ, अपनी शक्तियों का आविष्करण करते हुए अपने को निरन्तर पहचानने की चेष्टा कर रहा है। कालातीत तत्त्व की यह यात्रा ही इतिहास है, इस प्रकार हर खण्ड सत्य इतिहासोत्तीर्ण तत्त्व की इतिहासान्तर्गत अभिव्यक्ति है। इतिहास या भूगोल के सत्य को जब निरवधि, अखण्ड, कालजयी सत् की अभिव्यक्ति मानते हैं तो कालिक से अकालिक में निरायास प्रवेश कर जाते हैं। यही मूल्यानुसंधान है। यहीं यदि चूक जाते हैं—खण्ड और सापेक्ष को अतिक्रामी सत् के रूप में ग्रहण करते हैं, तो तर्क और अनुभव का, इतिहास और दर्शन का, कालिक और कालोत्तर का विरोध प्रारम्भ हो जाता है। इक्रबाल का बड़ा सारगर्भित शेर है—

तू है मुहीते-बेकरां,²⁵⁵ मैं हूँ ज़रा सी आबे-जू²⁵⁶

या मुझे हमकिनार²⁵⁷ कर, या मुझे बेकिनार²⁵⁸ कर

आध्यात्मिक सत्य समाज या आचरण के सत्य का विरोधी नहीं है, दोनों समरस हैं। सोमानन्द कहते हैं कुत्सित या गर्हित कुछ भी नहीं है। कुत्सा या गर्हणा हमारी दृष्टि में है। समग्र सृष्टि में व्याप्त अखण्ड सत्य से तोड़कर देखने पर ही सुन्दर एकबारगी कुत्सित में बदल जाता है।²⁵⁹ इसी प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार दुर्जनता, दूसरे का अपकार इसी खण्डित दृष्टि की अनिवार्य परिणतियाँ हैं। अखण्ड सत्य के साथ एकतानता का बोध सज्जनता है—सारी सृष्टि उस सत् की अभिव्यक्ति होने के नाते उसके लिए मूल्यवती है जिसकी दृष्टि अपूर्ण है वही सब ओर से लूटकर अपने को भरना चाहता है और इस प्रक्रिया में सामाजिक अपकारों की अंधी दौड़ शुरू हो जाती है।²⁶⁰ अभिनवगुप्त का अद्वय-बोध और उससे वासित उनकी मानवीय संवेदना से कोई क्षेत्र टूटा नहीं है। सामाजिक न्याय, मानवीय अधिकार, नारीमुक्ति, दलित चेतना इन सबके सन्दर्भों को वह इसी खण्ड दृष्टि और आत्मविस्मृति से ही उपजा पाते हैं।¹ गीता के बहु-चर्चित श्लोक—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (9.33)

की व्याख्या की तीक्ष्णता आज के बड़े से बड़े प्रतिबद्ध सक्रियतावादी को लज्जित करने के लिए पर्याप्त है—

“केचिदाचक्षते - ‘द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यं न तु स्त्र्यादिष्वपवर्ग-प्राप्तितात्पर्येण’ इति। ते हि भगवतः सर्वनुग्राहिकां शक्तिं मितविषयतया खण्डयन्तः, तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वमसहमानाः अद्वैतभगवत्तत्त्वे भेदलिङ्गं बलादेव आनयन्तः ... अन्तर्गर्भीकृतजात्यादिमहाग्रहाविष्टान्तःकरणाः मात्सर्यावहित्थलज्जाजिह्मीकृतावाङ्मुख-दृष्टयः समग्रस्य जनस्य असत्प्रलापिनः इति हास्यरसविषयभावम् आत्मनि आरोपयन्ति।” (गीतार्थ-संग्रह, पृ. 108)

प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों के द्वारा दिये गए इन सूत्रों को परिनिष्ठित विचार के रूप में विकसित किया जा सकता है। उत्पल के ‘मार्गे नवो’ की तार्किक परिणति के रूप में नये जीवन-दर्शन, जिसकी जड़ें परम्परा की सनातनता में गहरे जाती हैं, की सम्भावना का दोहन किया जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आनन्द का दर्शन है, जीवन की पार्यन्तिक मूल्यवत्ता का दर्शन है और मनुष्य की अपनी सम्भावनाओं और संवेदनाओं में पूरी आस्था का दर्शन है, यह जीवन का उत्सव और अस्तित्व का अभिषेक है।

सन्दर्भ

179. अनुसंधानम् एकविषयभावोपपन्नस्मृतिताप्राप्तिरूपम्।—वही, 1, पृ. 136

180. एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्। ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः ॥

—ई.प्र.का. 1.4.6

181. प्रथममपि पूर्वापररूपानुसन्धानेन स्मरणानुप्राणितेन विना न घटेत्, प्रमातरि विश्रान्त्यभावात् अप्रत्यक्षत्वप्रसंगात्।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 137
182. स्मरणानुप्राणितेन पूर्वकालविशेषितात्मरूपविषयानुभवेन सह एकविषयापरकालविशेषित-स्वात्मरूपविषय-स्मृतिदत्तसत्ताकेन।—भा., 1, पृ. 137
183. सर्व चानुसंधानं स्मरणानुसन्धानप्राणं विषयमेलनेन विना न सम्भवत्येव।—ई.प्र.वि.वि., पृ. 280
184. पूर्वदृष्टैव सविमर्शा सती इदानींतनविमर्शभूमिपतिता स इति विमर्श उच्यते।—वही, 2, पृ. 30
185. ततश्च स्मरणे स्वात्मांशे सविमर्शः कालानवच्छिन्न एव। अर्थांशे तु प्रकाशः प्राच्य एव। तन्नान्तरीयकविमर्शसहितः पुनर्विमर्शस्तु इदानीन्तनः।—वही, पृ. 32; देखिए वृत्ति, पृ. 106
186. स हि पूर्वानुभूतार्थोपलब्धा परतोऽपि सन्। विमृशन् स इति स्वैरी स्मरतीत्यपदिश्यते॥—ई.प्र.का. 1.4.1
187. स तादृगेव तमसेव आच्छाद्य अवस्थापितः संस्कारशब्दवाच्यः, तस्य तमाच्छादकम् अपहस्तयति।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 152
188. इति तत्परामर्शभित्तिप्राधान्येन पूर्वकालपरामर्शः इति विरुद्धपूर्वापरपरामर्शस्वभाव एव स इति परामर्श उच्यते।—वही, पृ. 153
189. एतदेव हि तस्य स्मृर्तत्वम्।—वही, पृ. 153-54
190. 'एष सः' इति आच्छादितस्येव प्रमातृत्वस्य स्फुटावभासनं कृतम्, इदम् (एषः) इति विस्मयगर्भया अनया उक्त्या प्रत्यभिज्ञा एव सूचिता।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 165
191. अस्मद्दर्शने तु भिन्नकाला अपि संविदः तत्कालात्यागेनेव एकतावभासनेन स्वतन्त्रः प्रमाता यावदन्तर्मुखतया तावत्यंशे विमृशति तावत्प्रकाशस्य तात्कालिककबहिर्भावावभासो विमर्शस्य इदानीन्तनान्मुखा स्थितिरिति।—वही, पृ. 164
192. यहाँ आकर अनुभव और प्रत्यभिज्ञा भी अपना भेद खो बैठते हैं। अनुभव प्रत्यभिज्ञानात्मक होता है और प्रत्यभिज्ञान अनुभवात्मक, क्योंकि दोनों ही में प्रकाश का विमर्श से अभेदानुसंधान होता है। अनुभव का अभिप्राय, अभिनवगुप्त के अनुसार, ऐसे अभेदविमर्श से है जिसका जीवन प्रकाश है : तेन निर्विकल्पकेन अभेदविमर्शेन प्रकाशमात्रजीवितेन अनुभवशब्दवाच्येन।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 79। यहाँ पर भी हम प्रकाश विमर्श का समीकरण देखते हैं।
193. तस्याद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः।—अनुत्तराष्टिका 4, अभिनवगुप्तः, परिशिष्ट 'सी', पृ. 43
194. अतिशयनिरन्तरावहितचेतसतु दृष्टार्थप्रत्यक्षीकार एव।—वृत्ति, पृ. 15
195. आगमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते। तथा च 'ध्यानादिभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणिस्तद्विभवं व्यनक्ति।'—ई.प्र.वि., 1, पृ. 154
196. तस्यापि प्रयोजनं समस्तसंपल्लक्षणपारमैश्वर्यरूपैकप्रथनम्।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 41-42
197. प्रत्यभिज्ञात्मकं मोक्षतत्त्वमिति विमर्शस्य तात्पर्यम्।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 355

198. ई.प्र.वि., 1, पृ. 45-46
199. एवमधिकारचतुष्टयोक्तं यद्वस्तु तत्फलितमाह-एवमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा। जानन्यथेप्सितान्यशयज्जानाति च करोति च॥-(ई.प्र.का. 4.1.15) : ई.प्र.वि., 2, पृ. 308
200. इत्येवंविमर्शो दृढीभूते विकल्पा अपि 'महाविमर्शपतिता' अविकल्पीभवन्ति। -ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 393
201. प्रत्यभिज्ञापरपर्यायस्य विमर्शस्य।-महार्थमञ्जरीपरिमल, पृ. 7
202. The soteriological reintegration-clarification of self-recognition is cast by the thinkers in a manner which may be described as teleological ... cosmogony and teleology are the same.-Argument, pp. 148-150
203. इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता। या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्॥-अ.प्र.सि. 15
204. एतदुक्तं भवति-परामर्शो नाम विश्रान्तिस्थानम् तच्च पार्यन्तिकमेव पारमार्थिकम्। ... अनेन नीलादेः अपि इदं नीलम् इति मध्यपरामर्शोऽपि मूलपरामर्शो अहमित्येव विश्रान्तेःआत्ममयत्वम् उपपादितमेव।-ई.प्र.वि., 1, पृ. 278-79
205. तस्य जनस्य ईश्वरविषये प्रत्यभिज्ञा तस्येश्वरस्य च जनविषये प्रत्यभिज्ञा।-भा. 1, पृ. 43
206. तस्य प्रभोरसौ सम्बन्धः प्रत्यभिज्ञापयितृप्रत्यभिज्ञाप्यलक्षणः।-ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 29-30
207. महाफलम् समस्तसंपत्समवाप्तिरूपफलयुक्तदास्यासादनरूपं श्रेष्ठफलम्।-भा., 1, पृ. 30
208. तस्य दास्यमित्यनेन तत्प्रत्यभिज्ञोपपादनस्य महापुलत्वमासूत्रयति ... इत्यनेन परमेश्वररूपस्वातन्त्र्यपात्रता उक्ता।-ई.प्र.वि., 1, पृ. 29
209. महाव्याप्तिभावनेयमेव तात्पर्यार्थः।-ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 23
210. सततसमावेशप्राबल्यं विद्यालक्षणं भक्तिः तथा। अनन्तफलार्थित्वेन मोक्षलक्षणो य आस्वादः परिपूर्णो विश्वरूपतामयो दृक्क्रियात्मा विमर्शः, स एव प्रकृतो यत्र।-वही, पृ. 24-25
211. देखिए मेरा लेख Gopinath Kaviraj on Kashmir Saivism, पृ. 40-44
212. शिवाग्रयोगिन् ने अपनी शैव परिभाषा में समावेश को कापालिकों की मुक्ति की विशेषता माना है (पृ. 156-57)। ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने अपने अष्टप्रकरण की भूमिका (पृ. 41-42) में इस मत को सानुमोदन उद्धृत किया है। आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि समावेश की धारणा कापालिकों से काश्मीर शैव अद्वैत परम्परा में आई। देखिए, "Purity and Power among the Brahmins of Kashmir, ए. सैण्डर्सन, The Category of Person, सं. एम. कैरिथर्स एवं अन्य, कैम्ब्रिज, 1985, पृ. 290, टिप्पणी 90; सिद्धान्त शैवों में भी इस धारणा का उल्लेख मिलता है। देखिए वृत्ति, भूमिका, पृ. 33, टिप्पणी 49। जहां तक प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का प्रश्न है वे इस धारणा का प्रभाव स्रोत गीता को स्वीकार करते हैं।" देखिए ई.प्र.वि., 2, पृ. 258;

ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 328 जहाँ अभिनवगुप्त गीता 12/2 इत्यादि को उद्धृत करते हैं। अपने आप में यह स्वतन्त्र विचार का विषय है।

213. मालिनीविजयोत्तर तंत्र 2.21-23

214. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्या बोधता। द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥
-ई.प्र.का. 3.2.4

215. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः। शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्॥-वही 3.2.12

216. सैण्डर्सन, हारा, टोरेला आदि पाश्चात्य विद्वान् समावेश के ये दो अर्थ विशु को सकर्मक और अकर्मक मानकर करते हैं। दे. वृत्ति, पृ. 32. परन्तु इसके पक्ष में धातुपाठ इत्यादि का प्रामाण्य नहीं मिलता।

217. तदत्र विदधत्तदं भुवनकर्तृतामात्मनो, विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्धयति।-ई.प्र.का. 4.1.15

218. अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे। शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने॥-शि.दृ. 1.1

219. तस्मात्समग्राकारेषु सर्वासु प्रतिपत्तिषु। विज्ञेयं शिवरूपत्वं स्वशक्त्यावेशनात्मकम्॥-वही 3.17

220. तेषु सर्वेष्वेव शक्तिमद्भगवच्छिवरूपत्वं स्थितं ज्ञेयं पूर्वोक्तसर्वनिजशक्तिसामरस्यमयम् उपदेशगम्यम्।-शि.दृ.वृ., पृ. 89

221. सेयं द्वयपि जीवन्मुक्तावस्था समावेश इत्युक्ता शास्त्रे।-ई.प्र.वि., 2, पृ. 258; सा इयं द्वयी अपि दशा समावेशः।-ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 328

222. देहपाते तु एकघना एव शिवतेति तदा समावेशादिव्यवहारो न कश्चिदिति सूत्रस्य पिण्डार्थः।-ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 328; देहपाते तु परमेश्वर एवैकरसः इति कः कुत्र कथं समावेशेत्।-ई.प्र.वि., 2, पृ. 258

223. समावेशलक्षणं सत्यस्वरूपे सम्यगासमन्तात् प्रदेशलक्षणं ज्ञानं यल्लाभेन ज्ञानी, यदभ्यासेन च देहप्राणादावनन्तसंविद्धर्मात्मकविभवसमासादनात् योगी भवति।-ई.प्र.वि.वि., 3 पृ. 327

224. इति अव्यतिरेकतुर्यातीतसमता एव।-वही, पृ. 328

225. 'विशेषदर्शनेषु' इति शाक्ताद्वैतप्रधानेषु, विशेषः शक्तिलक्षण आत्मनो दृश्यते साक्षात्कारं नीयते येषु। ... शुद्धचैतन्यमिति सामान्यदर्शनेषु सर्वोत्तीर्णकतद्रूपवेदकेषु दर्शितेति सूचयति।-वही, पृ. 331

226. अभ्यासात्तस्य संविद्धर्माः शक्तिविशेषाः सम्यगाविशन्तो विभूतीरुत्थापयन्ति, अनभ्यासे तु तत्क्षणावेश एव आनन्दोद्भव-कम्पनिद्राव्याप्तिरूपधूर्ण्यविर्भावनक्रमेण जीवन्मुक्ततालाभः।
-ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 330

227. समस्त = पर+अपर, संपत् = संपत्ति = सिद्धि

228. तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्तिः, समावेशाभ्यासरसे तु विभूतिलाभः—इति तस्य प्रत्यभिज्ञैव परापरसिद्धिप्रदायिनी भवति।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 315
229. जीवन्मुक्तिविभूत्यात्मकपरापरसिद्धिरूपमहाफलप्रदम्।—भा. 2, पृ. 315
230. तां विभाव्य यद्यनिशमाविशति शरीराणामुद्दिश्येभ्योऽन्यतम इयं सर्वं वा तत्रैव निमज्जयति, अनवरतं तत्तां तां विभूतिं महाविभूतिपर्यन्तां लभते।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 311
231. एतदेव हास्य दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यं यद् भोगमोक्षद्वितयानुभूतिसामरस्यं नाम।—म.मं.प., पृ. 13; पूज्य कविराज जी इसी संदर्भ में प्रबोधपंचदशिका से अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध पंक्तियों को उद्धृत करते हैं—यस्याः भोक्तव्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः। स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्॥—(भा.सं.सा., पृ. 253, पाद टिप्पणी 1)
232. ऐश्वर्यमयी महेश्वरसमावेशरूपा या प्रकृष्टा भक्तिः ... सा लक्ष्मीशब्देन संपत्पदेन च समस्तेत्यस्य दास्यविशेषणतासूचनेन निर्दिष्टा।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 28; देखिए, ई.प्र.का. 1.1.1 पर वृत्तिः लब्धात्यन्तदुर्लभतद्दास्यलक्ष्मीर् अहमेकाकिसंपदा -पृ. 1
233. प्रत्यभिज्ञानमात्रादानन्दलाभः, परिशीलनात् तु संभोगसहस्रप्राप्तिरिति तुल्यमुभयत्र।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 403
234. सम्यग्वावेशनमेव तत्र तत्र प्रधानम्, तत्सिद्धये तूपदेशान्तराणि। ... समावेशपल्लवा एव च प्रसिद्धदेहादिप्रमातृभागप्रहीभावभावनानुप्राणिताः परमेश्वरस्तुतिप्रणामपूजाध्यानसमाधि-प्रभृतयः।—वही, पृ. 258
235. तेषां हि प्रहीभावः स्वात्मगुणीकरणं परमेश्वररूपप्रधानतापादनं तत्त्वम्।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 328
236. सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपता, तादात्म्यं मोक्ष एव।—वही, पृ. 25-26
237. प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक सूक्ष्म विवेचना के समय बाह्य अर्थक्रिया जैसे स्थलों पर भी चैतन्य का अभिनिवेश मानते हुए प्रत्यभिज्ञा को वहाँ भी आवश्यक मानते हैं। पर संप्रति हमारे लिए उस विवेचन में जाना विषयान्तर होगा।
238. तत्क आत्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्धः? उच्यते द्विविधार्थक्रियास्ति, बाह्या चाङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा च प्रीत्यादिरूपा। तत्राद्या सत्यं प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते, द्वितीया तु तदपेक्षते एव।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 312
239. प्रमातृविश्रान्तिसारार्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन बिना न दृष्टा।—वही, पृ. 313
240. इह च 'अहं महेश्वरः' इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षणा जीवन्मुक्तिविभूतियोग-मय्यर्थक्रिया इति ईश्वरप्रत्यभिज्ञानमत्रावश्यापेक्षणीयम्।—वही
241. ज्ञातस्यापि मोहवशादज्ञातस्य इव आभिमुख्येन हृदयङ्गमीभावेन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 31
242. अप्रकाशनशाद् अनुपलक्षिते सर्वथा हृदयङ्गमीभावमप्राप्ते अतएव पूर्णतावभासनसाध्याम् अर्थक्रियाम् अकुर्वति, तत्पूर्णतावभासनात्मकाभिमानविशेषसिद्धये प्रत्यभिज्ञा ...।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 58
243. ई.प्र.वि., 2, पृ. 314

244. शुष्कः कर्तृतात्मस्वातन्त्र्योभयमेलनात्मकरसशून्यः। - चही, 3, पृ. 234
245. ईदृशेन य एकाकिसंपदा लज्जते, तत एव आर्द्राशयः सरसविमलहृदयः, अत एव विश्वरूपपरमेश्वरसमावेशोचितहृदयस्तेन।-ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 29
246. प्रत्यभिज्ञानमात्रादानन्दलाभः, परिशीलनात् तु संभोगसहस्रप्राप्तिरिति तुल्यमुभयत्र। -ई.प्र.वि.वि., पृ. 403
247. वस्तुनि अर्थक्रियालाभे ... पूर्वदृष्टेऽपि मोहात्पूर्वमविज्ञाते इति भावः। यद्वा इति निर्भातेऽपि अनिर्भातकल्पत्वं, ततो दृढनिश्चये तथाभिमान इति उभयत्रापि तुल्यमिति यावत्।-चही
248. तथाहि स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिकप्रमातृलाभ इह उपदिश्यते।-चही, 1, पृ. 31
249. यदेकतरनिर्याणे कार्यं जातु न जायेते। तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम्॥-शि. दृ. 1.23
250. आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता-तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः॥ -ई.प्र.का. 1.5.12
251. अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे। प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा॥ -तं. 3.2
252. ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिवृंहिता। संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम्॥-चही, 3.6
253. काश्मीर शैवदर्शन में, विशेषतः क्रमदर्शन में इसे 'सत्तर्क' की अवधारणा द्वारा शब्दशः अभिव्यक्ति दी गयी है। सत्तर्क शुद्धविद्यारूप होने के कारण प्रत्यभिज्ञानात्मक है और द्वैत-निर्मूलन पूर्वक समरस चेतना का आपादक है-द्वैतशङ्काश्च तर्केण तर्क्यन्त इति वर्णितम्। शुद्धविद्यात्मकं सर्वमेवेदमहमित्यलम्॥-तं. 4.105/113
254. दृष्टपूर्वा ह्यपि अर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्। सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इति द्रुमाः॥ -ध्व. लो. प्रस्तुतातिशयाविधानमन्तरेण नहि किञ्चिदपूर्वमस्ति।-ध्व.लो.लो.
255. अथाह सागर
256. छोटी सी नदी
257. अपने से मिला ले
258. किनारों को मिटा दे
259. अभेदापरामर्शनमेव भ्रान्तिरूपं कुत्सितम्, तच्च न किञ्चित्, अख्यातिमात्ररूपत्वात्। -शि.दृ.वृ. 12 (शि.दृ. 1.11-12)
260. ईश्वरदास्यासादनादेव पूर्णतात्मकः सज्जनभावः। अपूर्ण एवं हि स्वात्मानं सर्वतः पूरयिष्यामि इति परम् अपकरोति, नोपकरोति इति वा, ततो दुर्जनः।-ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 27



पुस्तक-समीक्षा

काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ

लेखक नवजीवन रस्तोगी, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा.लि., नयी दिल्ली,
प्र.सं. 2002, मूल्य 450/-

चौदह अध्यायों में विभाजित यह समीक्ष्य ग्रन्थ काश्मीर शिवाद्वयवाद की अनुसन्धित्सा को मूलानुगत रूप में एक नई दृष्टि प्रदान करता है। यह केवल विचार्य प्रत्ययों की मूलभूत अवधारणाओं की जिज्ञासा से प्रेरित होकर ही नहीं बल्कि विचारों की सूक्ष्मेक्षिका की दृष्टि से सम्बद्ध प्रत्ययों के समायोजन और अन्विति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण और संग्राह्य है। जिन प्रत्ययों की अवधारणात्मक विकास-यात्रा दिखाते हुए काश्मीर शैव सिद्धान्तों की आधार पीठिका प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार का लक्ष्य रहा, उसे ग्रन्थकार ने 'आधारपीठिका' नामक प्रथम अध्याय में ही प्रस्तावित किया है। द्वितीय से लेकर चतुर्दश अध्याय तक क्रमशः "प्रकाश - विमर्श - स्पन्द - वाक् - स्वातन्त्र्य - शक्ति - पूर्णता- सम्बन्ध- भेद - प्रत्यभिज्ञा - भक्ति - योग और उपायचतुष्टय भेद से विषयों का विभाजन तथा अनुशीलन किया गया है।" केवल विषयानुक्रमणिका मात्र का दर्शन करने से, इन विषयों के अन्तःसम्बन्ध तथा पौर्वापर्यव्यवस्थापन में कोई यौक्तिकता है अथवा नहीं—यह समझ में नहीं आता। काश्मीर शैवागम से अनभिज्ञ पाठक के मन में स्वतः यह प्रश्न उठता है कि—क्या जिज्ञासा का उपशमन तब तक नहीं हो सकता जब तक सावहित भाव से कोई भी पाठक प्राक्कथन का अवलोकन नहीं कर ले? ग्रन्थकार प्राक्कथन में इन विषयों का शैवागम की कुंजिका-प्रत्ययों के रूप में वर्णन करते हैं। आचार्य रस्तोगी का मानना है कि यद्यपि 'मोक्ष', 'अज्ञान', 'आभास', 'छत्तीस तत्त्व' आदि प्रत्यय शैवागम की विचार-परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि वे प्रत्यय 'केन्द्रीय' नहीं हैं, या अन्य उच्चतर केन्द्रीय प्रत्ययों के अंग हैं, अतः उन प्रत्ययों को यहाँ विचारार्थ नहीं लिया गया है। काश्मीर शिवाद्वयवाद की दृष्टि से 'पूर्णता' का प्रत्यय सबसे मूलभूत केन्द्रीय और बीज प्रत्यय के रूप में उभरता है—क्योंकि इस सम्प्रदाय में अभिमत 'अद्वय' की यही अवधारणा है। उस अद्वय तत्त्व की अनुभूति अथवा प्रत्यभिज्ञान के लिए जिन मूलभूत प्रत्ययों का ग्रन्थकार ग्रहण करते हैं वे प्रत्यय वस्तुतः द्विधा विभाज्य हैं—साध्य प्रत्यय व साधन प्रत्यय। साध्य प्रत्यय स्वयं बीज प्रत्यय और घटक प्रत्यय भेद से द्विविध हैं, जैसेकि पूर्णता रूपी बीज प्रत्यय के घटक प्रत्यय हैं 'प्रकाश', 'विमर्श', 'स्पन्द', 'वाक्', 'स्वातन्त्र्य', 'शक्ति', 'सम्बन्ध' और 'भेद'; साधन प्रत्यय हैं 'प्रत्यभिज्ञा', 'भक्ति', 'योग' और 'उपायचतुष्टय'।

आचार्य रस्तोगी यद्यपि पर्याप्त चिन्तन-मनन के बाद विचार्य विषयों का क्रम-विन्यास उपर्युक्त रूप से रखते हुए प्रतीत होते हैं, तथापि कुछ कारणों से उसमें शिथिलता अथवा अन्तःसम्बन्ध में नैकट्य का अभाव लगता है।

इस ग्रन्थ को यदि साध्यप्रत्यय खण्ड और साधनप्रत्यय खण्ड भेद से दो खण्डों में विभक्त किया गया होता तथा उपर्युक्त संकेतित क्रम में मूल प्रत्ययों को समावेशित किया गया होता तो प्रथम दृष्ट्या पाठक वर्ग ग्रन्थ के विषयवार विन्यास के प्रति अधिक सचेतनता के साथ आकर्षित होता और विषयों की अवधारणा में अधिक सक्षम हो पाता।

(एक)

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय 'आधार पीठिका' है, और यहाँ ग्रन्थकार सुव्यवस्थित रूप से काश्मीर शिवाद्वयवाद के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों का, अर्थात्, त्रिक-क्रम-कुल-स्पन्द व प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा साहित्य का, और विशिष्ट आचार्यों का परिचय देते हैं। त्रिक सम्प्रदाय की केन्द्रीय विचार-भूमि आज रहस्यावृत सी हो गयी है। त्रिक में त्रिसंख्या से वाच्य के रूप में—'द्वैत-द्वैताद्वैत-अद्वैत', 'भेद-भेदाभेद-अभेद', 'अनुत्तर-इच्छा-उन्मेष', 'इच्छा-ज्ञान-क्रिया' या 'नर-शक्ति-शिव' अथवा 'पशु-पाश-पशुपति' आदि के रूप में तीन-तीन प्रत्ययों को विवृत किया जा सकता है। सम्भवतः त्रिक सम्प्रदाय तन्त्रोक्त उपर्युक्त सभी प्रत्ययों की समीकृत अवधारणा का द्योतक है। इसी तरह क्रम सम्प्रदाय शिवाद्वयवाद में शाक्त प्रवृत्तियों के क्रमबद्ध उद्रेक का प्रतिनिधि होने के नाते 'शक्त्याविष्करण' प्रत्ययों की विकास तथा क्रम मुक्ति की अवधारणा से सम्बद्ध है और साथ ही साथ साधनामार्ग का एक प्रशस्त वातायन उन्मोचित करता है। कुल सम्प्रदाय योगमार्गी सम्प्रदाय प्रतीत होता है, जिसमें योगोपलब्धि रहस्यों का विचार होता है। 'कुण्डलिनी-योग' व 'आदि-योग' इस प्रक्रिया के अनिवार्य सोपान हैं (पृ. 6)।

स्पन्द-सम्प्रदाय और प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय काश्मीर शिवाद्वयवाद के दार्शनिकीकरण की प्रक्रिया से जन्म लेते हैं। परम सत् की जागतिक विस्तार-भूमि की परिव्याप्ति की दृष्टि से जिस गति-तत्त्व की अनिवार्यता स्वीकारनी पड़ती है, क्रिया का वह अयमारम्भ-बिन्दु 'स्पन्द' नाम से अभिव्यक्त होता है। वस्तुतन्त्र की विवेचना में एकता की अनेकता के रूप में परिव्याप्ति तथा अनेकता में एकता की अन्विति स्पन्द के बिना सम्भव नहीं हो सकती। स्पन्द वह देश-कालोत्तीर्ण प्रत्यय है जिसमें अविचलनात्मिका गति स्पन्दशक्ति के रूप में प्रतिभात होती है और वही परमसत् का 'स्वभाव' भी है। स्वस्वभाव की उपलब्धि ही इस सम्प्रदाय की प्रबुद्ध स्थिति है तथा परमसिद्धि भी है।

इन विचारों के बाद आधार-पठिका के विचार्य विषय रहे हैं—शिवाद्वयवाद में 'सत्-मीमांसा', 'ज्ञान-मीमांसा' और 'परमार्थमीमांसा'। 'सत्-मीमांसा' पदार्थतन्त्रता की दृष्टि से, ज्ञानमीमांसा आत्मतन्त्रता की दृष्टि से और परमार्थमीमांसा साधक की मोक्षेच्छा की दृष्टि से प्रमुखतया उभरी होंगी, यह विचार प्रस्तावित होना चाहिये था, किन्तु इस विषय में

आचार्य रस्तोगी का मौन समझ से परे है। अस्तु। काश्मीर शिवाद्वयवाद स्वयं को 'संविद्-ब्रह्मवादी' के रूप में निरूपित करते हुए अपनी विशेषता स्थापित करता है। आचार्य रस्तोगी के अनुसार—“इस दर्शन का ब्रह्म अर्थात् परमशिव संवित् है, चेतन है, पर जड़ नहीं।” वेदान्तसम्मत ब्रह्म भी जड़ नहीं है, पर शैव दार्शनिक लाक्षणिक प्रयोग करते हुए उसे 'जड़ ब्रह्मवाद' की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः परमशिव को संविद्-ब्रह्म और वेदान्तसम्मत ब्रह्म को जड़-ब्रह्म कहने का कारण है। परमशिव की 'गतिमत्ता' वेदान्तसम्मत ब्रह्म में नहीं है। (पृ. 25)

परमशिव में गतिमत्ता होने और एक काल में सर्वसर्वगतता (भूमा) होने में जो विडम्बना अवश्यम्भावी है उस पर विचार करना भी आवश्यक लग रहा था। अवश्य आचार्य रस्तोगी के विचार—“यह गतिमत्ता स्पन्द के रूप में ही जानी जा सकती है और उसका आभासन-सामर्थ्य परमशिव के इच्छा-स्वातन्त्र्य का ही एक अंग है। इसका संविद्-ब्रह्म जो ज्ञानरूप है, विश्वोत्तीर्ण दशा में एक पूर्णसामरस्य अवस्था में रहता है और अपने स्वातन्त्र्य से स्वयं ही विश्वमय हो जाता है” (पृ. 25)—में गति-स्पन्द-आभासनसामर्थ्य-स्वातन्त्र्य-ज्ञानरूप-संविद्-ब्रह्म का समीकरण किया गया है। किन्तु थोड़ा सा सावहित भाव से विचार करने से क्या यह सब वाग्विजृम्भण की पराकाष्ठा नहीं लगती?

(दो)

भारतीय दर्शन की विचार-परम्परा त्रि-ध्रुवीय विचार-परम्परा कही जा सकती है, जिसमें वह एकतः अर्थतत्त्व को प्रमातानिरपेक्ष रूप में देखने के लिए प्रेरित हुआ है। उसे तत्त्वमीमांसा कहते हैं। अपरतः प्रमातृ-अनुभूत-प्रमिति-सापेक्ष अर्थतत्त्व की विचार-परम्परा को ज्ञानमीमांसा कहते हैं तथा च ध्येयार्थपरक विचार-परम्परा को पुरुषार्थमीमांसा अथवा मोक्षमीमांसा कहते हैं। काश्मीर शिवाद्वैत दर्शन में उपर्युक्त त्रिध्रुवीय विचार-परम्परा का अनुसरण स्पष्टतः प्रतीत होता है। वस्तुतन्त्रता के आधार पर जब वे अर्थतत्त्व की मीमांसा में प्रवृत्त होते हैं तब अर्थतत्त्व परिनिष्ठित अद्वैत सत्ता में पर्यवसित होता है, जिसे वे परमसत् अथवा 'परमशिव' संज्ञा से अभिहित करते हैं, जो 'स्वयं-प्रकाश' है, तथा विश्वदृष्टि से वह पर-प्रकाशक भी है। अतएव इस दर्शन-परम्परा में 'प्रकाश' एक केन्द्रीय/मूल प्रत्यय के रूप में उभरता दिखाई देता है। आचार्य रस्तोगी ने मूलगामी अवधारणाओं के प्रथम पर्याय के रूप में ग्रन्थगत द्वितीय अध्याय में इसी का विचार किया है। 'प्रकाश' अपनी शब्दसामर्थ्य से तथा आचार्य भर्तृहरि के शब्दाद्वैतमार्ग से अनुप्राणित होकर काश्मीर शिवाद्वयवादी आचार्यगणों के लिए सत्-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के लिए प्रयुक्त होता रहा है। परमसत् = परमशिव स्वयंप्रकाशरूप होने से ज्ञान-परामर्शी होकर इतर प्रमातृनिरपेक्ष होते हुए भी स्वयं प्रमातृरूप में परिकल्पित है। अतः वह परमप्रमाता शब्दाभिधेय भी हो जाता है। अतः प्रकाश-प्रत्यय विमर्श-प्रत्यय से नैकट्य स्थापित करता हुआ परमसत् की ज्ञानात्मकता से अभिप्राणित होकर 'प्रकाशविमर्शात्मकता' रूप से सम्बोध्य होता है।

अतएव यह निर्द्वैतरूप से कहा जा सकता कि विचार्य विषयों की प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से, विषयों के प्रतिपादन में प्राञ्जलता और तथ्यात्मकता की दृष्टि से भी, ग्रन्थकार समीक्षादृष्टि की शरव्यता से परे है।

(तीन)

तृतीय अध्याय में आनुषंगिक विचार्य विषय के रूप में अवतरित है-विमर्श। आचार्य रस्तोगी के मत में-“काश्मीर शिवाद्वयवादी सम्प्रदाय में प्रकाश-विमर्श की धारणा वह मूलभूत सिद्धान्त है जो कि यहाँ के सारे दार्शनिक चिन्तन का आधार-बिन्दु है। यहाँ विशुद्ध दार्शनिक भाषा में जिस सत् के अन्वेषण का प्रयास किया गया है उसकी संज्ञा ‘प्रकाशविमर्शात्मा’ है। यद्यपि ‘प्रकाश-विमर्श’ का प्रत्यय अपने समग्र रूप में ही इस परम सत् के पूर्णस्वरूप को प्रस्तुत करता है, फिर भी पूर्ण-विश्लेषणात्मक दृष्टि से इस अवधारणा का भेदन कर दो रूपों की कल्पना की जाती है-प्रकाश व विमर्श (पृ. 43)। आचार्य रस्तोगी का यह विचार स्पृहणीय तो है ही, किन्तु यह विचारदृष्टि और प्राञ्जल हो जाती अगर वस्तुतन्त्रता और आत्मतन्त्रता/प्रमातृतन्त्रता की दृष्टि से भी इस पर विचार किया जाता। वस्तुतन्त्रता की दृष्टि से ‘सत्’ प्रकाशात्मा है तो आत्मतन्त्रता से अथवा प्रमातृतन्त्रता की तार्किक विश्लेषात्मक दृष्टि से वह ‘विमर्शात्मा’ हो जाता है। यही दृष्टि इस विचारतन्त्र की अधोरेखाङ्कित दृष्टि रही है, और इस दृष्टि से विचार करने पर अनेक अन्तर्ग्रथियां स्पष्ट हो सकती थीं।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में ‘विमर्श’ प्रत्यय वाग्-रूपता का अनुगमन करते हुए ‘प्रत्यवमर्श’ प्रत्यय के रूप में पर्यवसित हो जाता है। प्रत्यवमर्श चित्-तत्त्व से अभिसंस्पृष्ट वाक्-तत्त्व की परा भूमि है, अतः वह परावाक् संज्ञा से अभिहित है। ज्ञानमीमांसीय विचार-प्रवृत्ति में पुरुषतन्त्रता की दृष्टि से प्रमातृभावापन्न अहं-प्रकाश अहं-प्रत्यवमर्श के रूप में समग्र सत्-मीमांसीय विषयों को आत्मसात् कर लेता है। अतः समग्र विषय ज्ञेय और अभिधेय संज्ञा से संज्ञित होते हैं। इसीलिए विमर्श को ‘वाक्’ संज्ञा से संज्ञित किया जाना सम्भव होता है। वाक्तत्त्व के विचार का एक आयाम ‘प्रतिभा’ है जो कि पदार्थों के क्रम-अक्रम रूषित संवित् का ही नामान्तर है। अतएव विमर्श प्रत्यय प्रतिभा में पर्यवसित होकर ही अपने सम्पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो सकता है। आचार्य रस्तोगी विमर्श-प्रत्यय का अवान्तर भेदोपव्याख्यान करते हुए ‘प्रत्यभिज्ञा’ से इसका सम्बन्ध नाममात्र से दर्शाते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं।

(चार)

चतुर्थ अध्याय में विचार्य प्रत्यय है ‘स्पन्द’। काश्मीर शिवाद्वयवाद में ‘स्पन्द’ सम्प्रदाय नाम से एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय उपलब्ध है जिसका मूल ग्रन्थ है ‘स्पन्द कारिका’, जो कि ‘शिवसूत्रों’ का व्याख्यापरक ग्रन्थ है। गति-प्रत्यय की मूलभूत अवधारणा ‘स्पन्द’ प्रत्यय से जुड़ी है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में वस्तुतन्त्रता के आधार पर ‘सत्ता’ और

‘स्पन्दात्मकता’ समव्याप्त हैं—ऐसा प्रतीत होता है। अतः आचार्य रस्तोगी की व्याख्या सटीक बैठती है, जिसे वे परिभाषित करते हुए कहते हैं—‘स्पन्द’ निस्तरंग परमात्मा की युगपत् निर्विकल्परूपता व औन्मुख्यवृत्तिता है (पृ. 56)। स्पन्दतत्त्व स्वयं ही गति, गति से शक्ति, शक्ति से स्वातन्त्र्य आदि अनेक प्रत्ययों को विचार्य बनाता है। यहाँ स्पन्द प्रत्यय के विचार में एक विशेषता जो उभर कर आयी है वह यह है कि—काश्मीर शिवाद्वयवाद में ‘स्पन्दात्मक शिव’ अथवा ‘गत्यात्मक-सत्’ शांकर अद्वैतवाद के कूटस्थ-ब्रह्म से भिन्न है। भारतीय दर्शन-परम्परा में तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह विचार अपर्याप्त है और आगे विद्वानों के लिए यह विषय अवश्य अनुसन्धेय है। किन्तु आचार्य रस्तोगी जी इस प्रश्न पर विचार नहीं करते। सम्भवतः यह उनके अध्ययन के विषयों में साक्षात् अन्तःपाती नहीं है।

(पाँच)

पाँचवें अध्याय का विचार्य प्रत्यय है ‘वाक्’। अभिव्यक्ति के साधनमात्र के रूप में आधुनिक चिन्तकों की वाग्-विषयिणी दृष्टि प्राचीन भारतीय वाक्-विज्ञान की इयत्ताओं पर ध्यान देने पर नगण्य सी लगती है। वाग्-विज्ञान का विचार केवल तत्त्वरूपमात्र पर निःश्रित नहीं है। उसका एक प्रशस्त आयाम वागर्थसम्पत्ति को विषय करता है तो दूसरा वागर्थ अभिव्यक्ति को। इन दोनों आयामों की व्याप्ति काव्यशास्त्र से लेकर मीमांसा, न्याय, व्याकरणादि शास्त्र-परम्परा तक तो फैली है ही, किन्तु वाक्-विज्ञान का एक तीसरा आयाम आगम तन्त्र शास्त्रीय परम्परा में भी परिदृष्ट होता है, जिसकी आन्तर व्याप्ति षट्चक्रविज्ञान में समाहित है। षट्चक्र में भिन्न-भिन्न दलों से युक्त कमलों का वर्णन एक भिन्न प्रस्थान की उपस्थापना तो करता है, किन्तु उसकी तात्त्विकता सामान्य जन के लिए दुरवबोध्य हो जाती है, जिसे सम्भवतः वाग्-ध्वनि विज्ञान की सूक्ष्मदृष्टि से समझा जा सकता है। वाग्-विज्ञान का यह पक्ष आधुनिक विचार-दृष्टि से भी अस्पृष्ट सा रह गया है, और यही सत्य आचार्य रस्तोगी के ग्रन्थ पर भी लागू होता है। आशा की जा सकती है कि इस चक्रविज्ञान और वर्णविज्ञान के समन्वय में तात्त्विक दृष्टि का विस्तृत विवेचनात्मक अध्ययन आचार्य रस्तोगी जैसे परिनिष्ठितप्रज्ञ विद्वान अवश्य कभी करेंगे।

(छः)

अध्याय छः का विचार्य प्रत्यय है ‘स्वातन्त्र्य’। ‘स्वातन्त्र्य’ इस दर्शन की दृष्टि से परमसत् का स्वभाव भी है (पृ. 64) और उसकी अवस्थाविशेष भी (पृ. 62)। आचार्य रस्तोगी के इस कथन का तात्पर्य परमसत् अथवा परमशिव की विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दशाद्वय को ध्यान में रखने पर ही स्पष्ट होता है, अन्यथा उभय परस्पर विरोधाभासी स्वरूप की स्थापना के लिए पर्याप्त सामग्री अपने में समेटे हुए हैं। ‘स्वातन्त्र्य-प्रत्यय’ एक ऐसा प्रत्यय है जिससे काश्मीर शिवाद्वयवादी विचारक उस खाई को पाटने में और एक समरसात्मक सत्तामीमांसा प्रस्तुत करने में समर्थ हो पाये हैं जिसे अद्वैत वेदान्तियों ने स्व-परिकल्पित तथा परस्पर सर्वथा असम्बद्ध त्रि-स्तरीय-जगत्/सत्ता (पारमार्थिक-

व्यावहारिक-प्रातिभासिक-सत्ता) व्यवस्था स्वीकार कर उत्पन्न किया था। केवलाद्वयवादी शाङ्करवेदान्त में पारमार्थिकी सत्ता को ही ऐकान्तिक सत्ता प्रतिपादित करते हुए व्यावहारिक सत्ता को मायिक तथा प्रातिभासिक सत्ता को आविद्यक मानना पड़ा, जिससे व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताद्वय को 'मिथ्या', 'अविद्याविजृम्भित' माना गया। सृष्टिप्रक्रिया की दृष्टि से भी अद्वैतवादियों ने मायोपहितचैतन्य को 'ईश्वर' तथा अविद्योपहितचैतन्य को 'जीव' परिभाषित करते हुए व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक विषयों के विचार की यौक्तिकता दी है। काश्मीर शिवाद्वयवादियों की दृष्टि से सत्ता की यह त्रि-स्तरीय-व्यवस्था उचित नहीं है। कारण, उस स्थिति में अनिच्छयापि अनुभव का अपलाप करना पड़ता है। अनुभव का अपलपन किये बिना शास्त्रीय तार्किक मर्यादाओं का परिपालन करते हुए परमसत् का 'विश्वोत्तीर्ण' एवं 'विश्वमय' (अथवा 'विश्वात्मक') रूप में उपव्याख्यान करने के लिए काश्मीर शिवाद्वयवादियों के द्वारा 'स्वातन्त्र्य' प्रत्यय का स्वीकार किया जाना सम्भवतः स्तुत्य प्रयास माना जाएगा। इससे अन्यनिरपेक्ष, आत्मविश्रान्त, सर्वकर्तृत्व-सामर्थ्य तथा ईशितृत्व-विशिष्ट परमसत् स्वतन्त्र-स्वभावी 'परमतत्त्व' माना जाता है, जो उसका विश्वोत्तीर्ण रूप है। वही विश्वोत्तीर्णरूप जब विश्वमय रूप से प्रकाशित होता है तब 'स्वातन्त्र्य' उसका स्वरूप न रहकर अवस्थाविशेष के रूप में परिणत हो जाता है। इससे व्यावहारिक जगत् की मायोपाधिक-ईश्वर-कर्तृकता की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती और न ही व्यावहारिक जगत् की अलीकता की परमशिव सर्वदा सर्व-ज्ञान-सम्पन्न होने के कारण स्वातन्त्र्य शक्ति से जागतिक वैचित्र्य के निष्पादन को सम्भव बनाता है—यही सम्भवतः मूलभूत-दृष्टि रही होगी जिसके चलते काश्मीर शिवाद्वयवाद को अद्वैतियों के मायावाद से छुटकारा मिल जाता है और पारमार्थिक सत्ता का व्यावहारिक सत्ता से समन्वय भी स्थापित हो जाता है। इससे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—श्रुतिवाक्य का याथार्थ्य भी प्रतिष्ठित हो जाता है।

आचार्य रस्तोगी यहाँ पर 'स्वातन्त्र्य' के जो तीन घटक प्रत्ययों की अवतारणा करते हैं—वे हैं 'ज्ञान-इच्छा-यत्न' प्रत्ययों की पौर्वापर्य क्रम व्यवस्था। न्यायशास्त्रीय परम्परा में प्रवृत्ति के मूल में 'जानाति - इच्छति - यतते' के विपरीत काश्मीर शिवाद्वय परम्परा में 'इच्छति-जानाति-यतते' का क्रम स्वीकृत है (पृ. 61)। इससे यह स्पष्ट है कि इच्छापूर्वक ज्ञान, और ज्ञानपूर्विका कृति ही प्रवृत्ति का कारण बनती है। यहाँ इच्छा और ज्ञान के पौर्वापर्य-भाव से औचित्य विषयक शंका तो उठती है, और यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि स्वानुभवानुरूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त क्या होना चाहिये। स्वानुभवानुरूढ़ता का प्रत्याख्यान करते हुए कोई भी दार्शनिक परम्परा अथवा दार्शनिक मर्यादा की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। काश्मीर शिवाद्वय परम्परा में सम्भवतः 'परमसत्' प्रकाशविमर्शात्म होने से सर्वदा सर्वज्ञानसम्पन्न बना रहता है, अतः प्रवृत्ति के लिए उसे केवल इच्छा और कृति की आवश्यकता रहती है। अतः इस परम्परा में परमसत् में 'इच्छा स्वातन्त्र्य' पर बल दिया गया

है। एतावता 'ज्ञान-इच्छा-कृति' का क्रम परिवर्तित होकर 'इच्छा-ज्ञान-कृति' का क्रम काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वीकृत है—यह मानना अनुचित है और पुनर्विचारणीय भी है।

(सात)

अध्याय सात का विचार्य प्रत्यय है 'शक्ति', जो कि समग्र तान्त्रिक/आगमिक विचार-परम्परा में एक केन्द्रीय प्रत्यय होकर उभरा है। शक्ति को सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रत्यय के रूप में स्वीकार कर यद्यपि शाक्त सम्प्रदाय गठित है तथापि काश्मीर शिवाद्वयवाद में शिव से शक्ति की विविक्तता की कल्पना नहीं की जा सकती है—यह पौनःपुन्येन प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न दिखता है आचार्य रस्तोगी जी के ग्रन्थ में। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'शक्ति' और 'सामर्थ्य' में केवल भाषिक अथवा वाक्संरचना-जनित लिंगगत पाथर्क्य है, न कि तात्त्विक पार्थक्य, जैसा कि 'महाकाल' और 'महाकाली' में। किन्तु शक्ति शब्द साम्प्रदायिक दृष्टि से इतना तात्त्विक लिंग-वैशिष्ट्य से आरूढ़ हो गया है कि वह परमेश्वर की अर्द्धांगिनी के रूप में, और कहीं-कहीं तो स्वतन्त्र परमेश्वरी के रूप में उमा, महेश्वरी, पार्वती, महाकाली इत्यादि संज्ञाओं से संज्ञित हो कर एक स्वतन्त्र प्रस्थान का उन्मीलन करता है। ऐसे ही प्रसंग पर ध्यान देने से 'वाङ्माया ब्रह्मसूः'—इस श्रुतिवचन का अर्थ स्पष्टतर हो उठता है। सारा विश्ववैचित्र्य केवल वाग्-विजृम्भण है, 'वाचारम्भण' है—यह भी उपर्युक्त विवेचना से सार्थक लगता है।

स्वातन्त्र्य शक्ति के 'स्वभाव' तथा 'अर्थक्रियाकारित्व' की दृष्टि से विचार करने से 'परमसत्' का 'विश्वोत्तीर्ण' और 'विश्वमय' रूप-भेद से अवस्थाद्वय तथाच 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' रूप से अभेदभाव भी स्पष्टतर हो जाता है। वस्तुतः विचार्य विषय है कि पदार्थों का स्वरूप शक्तिमात्राओं का संपिण्डित रूप है या शक्तिमात्राओं का अध्याहित रूप है। यद्यपि धर्म और धर्मी संकल्पना से धर्म का आश्रय धर्मी है यह मानकर और शक्ति को धर्मस्थानीय मानकर शक्तिमान् (धर्मी) को अर्थक्रियाकारित्व के लिए एकान्तावलम्बनीय रूप में उपस्थापित किया जाता है, और युक्तितः यह विचार हृदयग्राही भी लगता है, तथापि इस विचार में शक्ति-शक्तिमान् विषयक द्वैतबुद्धि अगत्या स्वीकृत होती सी लगती है। परन्तु काश्मीर शिवाद्वय, जो कि महाद्वैत सत्ता स्वीकार करता है, में द्वैतस्पर्श लेशतोऽपि स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः शक्तिमात्राओं का संपिण्डित रूप अथवा शक्तिमात्रासमूह रूप ही पदार्थसत्ता का आजीव है—यह मानना पड़ता है। अतएव "अनन्ता विश्वे भावा हि तस्यैव शक्त्यः" (ई.प्र.वि.वि.भ.उ.पृ. 185) कह कर अत्यन्ताभेद की प्रतिष्ठा की गई है। तब विश्वमय भाव परमसत् अर्थात् विश्वोत्तीर्ण परमशिव की शक्ति या सामर्थ्य माना जाएगा, जिस से पदार्थ जगत् की शक्तिमात्रासमूहरूपता की प्रतिष्ठा होती है। इससे निम्न समीकरण बनता है—

विश्वोत्तीर्ण परमशिव की शक्ति = अनन्त विश्वमय भाव;

विश्वमय भाव = पदार्थ जगत्;

पदार्थ जगत् = शक्तिमात्रासमूहरूप;

शक्तिमात्रासमूहरूप = परमसत् का विश्वमय भाव - शक्ति;

विश्वोत्तीर्ण भाव = शक्तिमान्;

∴ विश्वमयभाव ≠ विश्वोत्तीर्ण भाव;

∴ शक्तिमान् ≠ शक्ति।

इस समीकरण से भेदसिद्धि होती है, न कि अभेद/अद्वैत सिद्धि। अपरं च, इस दृष्टि से विचार करने पर भर्तृहरि प्रतिपादित उस सिद्धान्त को बल मिलता है जिसके अनुसार शब्दब्रह्म का परिणामभूत यह अर्थजगत् है। परन्तु ऐसा मानने पर काश्मीर शिवाद्वयवाद का परमसत् अथवा परं ब्रह्म स्थानीय परमशिव भर्तृहरि के शब्दब्रह्म के समकक्ष हो जाएगा; तब 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति' सिद्धान्त बाधित होगा—जो कि सम्भवतः शैवागम में मान्य नहीं हो सकता।

(आठ)

अष्टम अध्याय का विचार्य प्रत्यय है 'पूर्णता'। 'पूर्णता' का प्रत्यय सबसे केन्द्रीय और बीज प्रत्यय के रूप में उभरता है, क्योंकि इस सम्प्रदाय में अभिमत 'द्वय' की यह यथातथ्य परिभाष्य अवधारणा है। इस पूर्णता के घटक/नियामक प्रत्यय हैं 'प्रकाश', 'विमर्श', 'स्पन्द', 'वाक्', 'स्वातन्त्र्य', 'शक्ति', 'सम्बन्ध' और 'भेद'। (पृ. xi)।

'पूर्णता' का प्रत्यय एक ऐसा सर्वसमावेशी प्रत्यय है जिसमें व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक जगत् के समस्त भाव समाहित हो जाते हैं और सब कुछ समरस हो जाता है। अतएव भास्करी में कहा गया है—“पूर्णेन सर्वभावभरितेन, सर्वं हि भावजातमाद्यस्पन्दभूतायाम् अपरिमिताहन्तायामेव विश्रान्तम्” (भा. भाग 1 पृ. 15)। वही एकरसता अथवा सामरस्य अन्यनिरपेक्ष्य तथा आकाङ्क्षाशून्य है और 'आनन्द' का आधायक भी है। इसी पूर्णता के अनुभव को काश्मीर शिवाद्वयवाद में 'परम पुरुषार्थ' कहा जाता है। आचार्य रस्तोगी के शब्दों में “इस एकरसता को स्वीकार कर लेने पर दार्शनिक और सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या का समाधान भी सम्भव है। शायद पूर्णता के इस पक्ष को ध्यान में रखकर ही अभिनव गुप्त ने कहा है कि तान्त्रिक जीवन-दर्शन में 'भक्ति एवं मुक्ति' प्रमुख हैं और इन लक्ष्यों की पूर्ति तभी सम्भव है जब पूर्णता को प्राप्त कर लिया जाय (पृ. 126)। अतएव रस्तोगी कहते हैं—“शैव साधक तो मोक्ष का भोग इसी संसार में करता है (पृ. 122)।” इससे यह निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि काश्मीर शिवाद्वयवादियों की पुरुषार्थ-परक दृष्टि बौद्धों के निर्वाण अथवा अद्वैत वेदान्तियों की कैवल्य-दृष्टि से उच्चतर है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से काश्मीर शिवाद्वयवाद की सत्ता-मीमांसा इतर दर्शनानुसृत सत्-मीमांसा से कहीं अधिक समुन्नत व सुसंगत लगती है। यह बात पूर्णता-प्रत्यय के सन्दर्भ में तो शिखरारूढ़ होकर उभरती है।

परवर्ती काल में, विशेषतः वैष्णव सम्प्रदाय में और शैव/तान्त्रिक परम्परा में भी, भोग-मोक्ष की समन्वयात्मिका दृष्टि का विकास किया गया जो कि समाजविज्ञान/मनोविज्ञान की दृष्टि से आकर्षक था। परन्तु यह भी विचार्य था कि भोग-मोक्ष के समन्वय से अथवा भुक्ति-मुक्ति की समन्विति से वर्णाश्रम-व्यवस्था भी विपर्यस्त हो जाएगी, जो कि भारतीय संस्कृति का एक मूलभूत आधार स्तम्भ है। अतः यद्यपि 'भुक्ति-मुक्ति' की समन्वयात्मिका दृष्टि आपातरमणीय प्रतीत होती है, तथापि वस्तुतः परमार्थवस्तु की पार्यन्तिक अवधारणा अथवा परमपुरुषार्थ की चरमानुभूति तदनुरूप है या नहीं यही चिन्त्य है। काश्मीर-शिवाद्वयवाद में यह अवधारणा तदनुरूप है और वही है पूर्णता की अनुभूति। पूर्णता में समस्त भेद और अभेद प्रत्यय आत्मविश्रान्त हैं, समरस हैं और अन्यनिरपेक्ष भी है।

तत्त्वमीमांसीय विचार की दृष्टि से यहाँ पुनः यह अवधेय है कि आचार्य रस्तोगी बौद्ध, अद्वैतवेदान्त और काश्मीर शिवाद्वयवाद की सत्-मीमांसा को एक पर्याय में रखते हैं, क्योंकि ये सब अन्ततोगत्वा अद्वैतवादी हैं; यद्यपि इन तीनों विचारधाराओं की पूर्णतामूलक धारणा भिन्न-भिन्न तात्त्विक सिद्धान्तों पर निःश्रित है। अद्वैतवेदान्त में पूर्णता की अवधारणा ज्ञाननिष्ठ है तथा बौद्ध दर्शन में शून्यनिष्ठ। अद्वैतवेदान्त में ज्ञातृत्व ही पूर्णता का प्रत्यायक है तो काश्मीर शिवाद्वयवाद में कर्तृत्व है, और बौद्ध दृष्टि से ज्ञातृत्व-कर्तृत्व का निषेध। बौद्ध परम्परा में सर्वशून्यता ही पूर्णता का पर्याय बन जाती है। किन्तु रस्तोगी जी पूर्णता की इस व्याख्या का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

“यहाँ पूर्णता की व्याख्या प्रमाणशास्त्रीय प्रतीत होती है। यद्यपि प्रथम दृष्टि में यह विश्वोत्तीर्णता की ओर संकेत करती प्रतीत होती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ विचारों से बाह्य कुछ भी नहीं है। शून्यता को पूर्णता नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शून्यता में सत्ता और भवत्ता (बींग एंड बिकमिंग) को पृथक्-पृथक् कर देखा जाता है, जबकि पूर्णता में ये दोनों अलग नहीं हैं।” (पृ. 124)।

इसी दृष्टि से अद्वैतवेदान्त की पूर्णता, जो कि केवल सत्तात्मिका है और भवत्ता से परे है, वह भी पूर्णता की वाच्यता कोटि में समाविष्ट नहीं बैठती है, अतः त्याज्य है—यह रस्तोगी जी का मानना है।

इन विचारों पर ध्यान केन्द्रित करने से यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सत् और असत् का भेद, ज्ञान और अज्ञान का भेद तार्किक या बौद्धिक कुण्ठाग्रस्तता का परिचायक है? वैसे ही क्या सद्-असत् का अभेद, अथवा ज्ञान और अज्ञान के सामरस्य की उक्ति मण्डलाकृति-चतुर्भुज की उक्ति जैसे निस्तत्त्व जल्पन मात्र नहीं? वाग्विजृम्भण की पराकाष्ठा नहीं? ठीक उसी तरह पुरुषार्थ-मीमांसा की दृष्टि से भुक्ति और मुक्ति की एकाव्विति भी कही जा सकती है। सम्भवतः भुक्ति और मुक्ति के समन्वय के पीछे भोगलिप्सु साधक को कथंचित् वैराग्य मार्ग में उन्मुख करने की भावना रही हो। एतावता

भोग-मोक्ष का समन्वय परमपुरुषार्थ साधक है—यह नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में काश्मीर शैव मत की परीक्षा में संगमलाल पाण्डेय जी² का विचार समुचित प्रतीत होता है, जिसमें वे काश्मीर शिवाद्वयवाद के विचारों के ‘अविचारित रमणीयता’ पक्ष को उजागर करते हुए निष्कर्ष में कहते हैं कि—“स्वतन्त्राद्वैत (काश्मीर शिवाद्वयवाद) को अद्वैतवाद से अधिक उत्कृष्ट तथा प्रामाणिक बताना बिना सोचे समझे शोरगुल मचाना है।”³

अद्वैत वेदान्त की त्रि-स्तरीय सत्ता-व्यवस्था को ज्ञातृत्व-कर्तृत्व की समन्वित दृष्टि से अथवा स्वातन्त्र्य प्रत्यय की दृष्टि से एकान्विति में स्थापित करना यद्यपि काश्मीर शिवाद्वयवाद में एक उपलब्धि के रूप में देखा जाता है तथापि उसमें यथातथ्यता के प्रति उदासीनता भी परिलक्षित होती है, क्योंकि “काश्मीर शिवाद्वयवाद में परमसत् (परमशिव) के विशोत्तीर्णरूप से विश्वरूप के वैचित्र्य को वाक्-तत्त्व की अद्भुत संरचना” (पृ. 228) मात्र मानना ही उनको अद्वैत वेदान्त की द्विस्तरीय (दृष्टान्त के रूप में प्रातिभासिक सत्ता की नगण्यता का स्वीकार करने पर) सत्ता-व्यवस्था का निकटवर्ती बना देता है। अतः सत्-मीमांसा की दृष्टि से काश्मीर शिवाद्वयवाद में ‘पूर्णता’ की अवधारणा को लाघव युक्त मानना भी सर्वथा आक्षेपमुक्त नहीं कहा जा सकता।

(नौ)

आचार्य रस्तोगी ग्रन्थ के नवम् अध्याय में ‘सम्बन्ध’ प्रत्यय की चर्चा अत्यन्त कुशल शास्त्रनिष्णातता तथा क्षीर-नीर विवेक-पटुता की दृष्टि से उपस्थापित करते हैं। ‘सम्बन्ध’ प्रत्यय भारतीय तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के विचार-क्षेत्र में इतना महत्वपूर्ण है कि इससे परिचित हुए बिना समग्र दार्शनिक चिन्तन निर्लक्ष्यविद्ध शर जैसा ‘श्रम एव हि केवलम्’ में पर्यवसित हो जाता है।

आचार्य रस्तोगी यद्यपि सम्बन्ध के मूलभूत लक्षण—“सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नः द्विष्ट एकश्च” से लेकर विचार प्रारम्भ करते हैं तथापि इस लक्षण से हमें अपरिचित छोड़ देते हैं। काश्मीर शिवाद्वयवाद की दृष्टि से जिन दो स्तरों पर सम्बन्ध का विचार प्रवृत्त होता है वह है—(क) विमर्श का स्तर तथा (ख) वस्तु का स्तर। सामान्य दार्शनिक भाषा में कहा जाए तो सम्बन्ध-विचार तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तथा ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से होता है; और वही रस्तोगी के वर्गीकरण का आधार भी बनता है। पदार्थों की द्वैत दशा में सत्तामीमांसीय परिप्रेक्ष्य से जब दो अथवा अनेक पदार्थ प्रमातृनिरपेक्ष और अन्योन्यसम्बद्ध रहते हैं तब सम्बन्धों की सत्ता अथवा भूमिका तत्त्वमीमांसीय विचार कोटि में आती है। जैसे कि ‘भूतले घटः’—यहाँ दोनों पदार्थ ‘संयोग’ रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। वस्तुस्थिति की दृष्टि से इस ‘सम्बन्ध’ की सत्ता प्रमातृनिरपेक्ष है तथा पदार्थद्वय के सम्बद्धता प्रत्यय में यावत्कालभावी है। अतः इस प्रकार सम्बन्ध-प्रत्यय वस्तुतन्त्र है और इस दृष्टि से इसकी काल्पनिकता (कल्पनापोद्धता) की बात नहीं कही जा सकती। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ‘सम्बन्ध’ का विचार करते हुए यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ‘विशिष्ट-बुद्धि’ के लिए सम्बन्ध

अनिवार्यतया घटक-प्रत्यय होता है। वस्तुतन्त्रता की दृष्टि से पदार्थद्वय अथवा अनेक पदार्थ परस्पर सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध होते हुए भी प्रमातृबुद्ध्युपासक होकर एक-प्रत्ययविषयभूत जब बनते हैं तब उसका नियामक कारण 'सम्बन्ध' ही होता है, अन्यथा नहीं। अतएव 'विशिष्टधीनियामकत्वं सम्बन्धत्वम्' इस प्रकार की परिभाषा दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणतः पूर्वोक्त 'भूतले घटः' को ही लिया जा सकता है। यहां पर जब पदार्थ-मीमांसा की दृष्टि को छोड़कर ज्ञानमीमांसा की दृष्टि अपनाते हैं तो 'घट' और 'भूतल' के बीच आधाराधेय भाव सम्बन्ध (न्याय-वैशेषिक दृष्टि से 'आधारता' अथवा 'आधेयता' सम्बन्ध) भाषित होता है। उस सम्बन्ध से संश्लिष्ट होने पर 'भूतल' आधार-प्रत्यय तथा 'घट' आधेय-प्रत्यय का विषय बनता है। अन्यथा वस्तुतन्त्रता की दृष्टि से जहाँ प्रमातृतन्त्रता की विवित्सा नियामिका होती है वहाँ अनेक सम्बन्धों की कल्पना और यथोचित सम्बन्धों की व्यवस्थापना की जाती है। इसी दृष्टि से विचार करने से सम्बन्ध की द्वि-स्तरीयता (विमर्शस्तर तथा वस्तुस्तर) का स्फुट ज्ञान हो जाता है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में आचार्य उत्पल देव 'सम्बन्धसिद्धि' में सम्बन्ध की 'रूपश्लेष रूपता' की जो बात करते हैं वहां भी सम्बन्ध की इस विवेचित ज्ञानमीमांसीय दृष्टि को ही कारण माना जा सकता है। अतएव सम्बन्ध को 'ज्ञान की एक सापेक्ष कोटि' (पृ. 133) कहना अनुचित नहीं है।

सम्बन्ध की ज्ञान-मीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय परीक्षा से भिन्न एक और दृष्टि है जिसे सम्बन्ध का प्रवृत्ति पक्ष कहा जा सकता है। सम्बन्ध का यह प्रवृत्तिपक्ष परमप्रमाता (परमसत् अथवा परमशिव) की स्वातन्त्र्य शक्ति की दृष्टि से एक से अनेकरूपता की 'ऐश्वर्य' संज्ञक स्थिति को दर्शाता है और इसी से जुड़ा सम्बन्ध प्रत्यय है कर्तृत्व (अथवा कारकत्व सामान्य) रूप सम्बन्ध का प्रत्यय। किन्तु सम्बन्ध का प्रवृत्तिपक्ष परिमितप्रमाता (जीवप्रमाता) की द्रष्टृत्वशक्ति के उन्मुखीभाव से जोड़ कर जब देखा जाता है तब वह ज्ञातृत्व सम्बन्ध का परिचायक होता है, जो आगे चलकर पुरुषार्थ-मीमांसा में चरम परिणति को प्राप्त होता है पूर्णता की उपलब्धि में। यह सम्बन्ध की पुरुषार्थ-मीमांसीय दृष्टि कही जा सकती है, जो प्रकारान्तर से 'रसना' अथवा 'आस्वादन' से सम्बद्ध होकर सौन्दर्यमीमांसीय चिन्तन का उन्मेष करती है।

(दस)

अध्याय दस का विचार्य प्रत्यय है भेद-प्रत्यय। भेद-प्रत्यय दार्शनिक मीमांसा में अतीव महत्त्वपूर्ण है और उतना ही विवादास्पद है, क्योंकि समग्र ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय विचार 'व्यवहार' पर निःश्रित है और समस्त 'व्यवहार' भेदानुप्राणित है। दार्शनिक प्रवृत्ति परमार्थवस्तुतत्त्व के अनुसन्धान में पर्यवसित होती है तथा 'व्यवहार' और 'व्यावहारिक वस्तुतत्त्वमीमांसा' ही उस प्रवृत्त्युन्मेष की प्रथम कारण मानी जाती है। परमार्थवस्तुतत्त्वोपलब्धि उस प्रवृत्ति का नान्तरीयक फल माना जा सकता है।

आचार्य रस्तोगी ने इस अध्याय में भेद के सम्बन्ध में यच्च यावच्च विचार-परम्परा का विभिन्न दृष्टिकोणों से और भिन्न-भिन्न स्तरों से साजोपाज वर्णन किया है। यहाँ उद्धृत उक्तियों से काश्मीर शिवाद्वयवाद में भेद-सत्ता की तात्त्विक प्रतिष्ठा के पीछे निहित कारण क्या है एवं तत्त्वतः इस प्रतिष्ठा की स्थापना में यह सम्प्रदाय कितना सफल है, यह बात स्पष्ट रूप से ऊभर कर आती है। इन बातों को निम्नोक्त बिन्दुवार उपस्थापित किया जा सकता है—

1. शिव अद्वय और पूर्ण है; 2. पूर्णता भेद और अभेद दोनों प्रत्ययों पर विश्रान्त है; 3. शिव सत् है, तो भेद भी सत् है; 4. पारमार्थिक स्तर पर प्रकाशरूपेण भासन-पर्यन्त भेद की परमार्थसत्ता है; 5. अन्यथा प्रकाशरूपता के विश्रान्त हो जाने से भेद की वास्तविक सत्ता सिद्ध नहीं होगी; 6. अन्ततोगत्वा काश्मीर शिवाद्वयवाद में भेद की सत्ता को लेकर कोई सीधा, सरल, सपाट उत्तर नहीं। अतः तात्पर्यतः भेद-सत्ता 'अनिर्वचनीय' है।

इस विवेचना में 'परमार्थ स्तर' की जो बात कही गई है उसे हम यहाँ रेखांकित करना चाहेंगे। परमार्थस्तर का प्रतिशब्द है 'व्यवहारस्तर'। उभयस्तर पर वस्तुसत्ता की विवेचना शिवाद्वयवाद में स्वीकृत है—यह बात इस ग्रन्थ में जगह जगह आयी है (पृ. 142)। पूर्वोक्त विवेचना से भेद की सत्ता भी 'अनिर्वचनीयता-विश्रान्त' जैसी लगती है। तब प्रश्न उठता है कि किन कारणों से काश्मीर शिवाद्वयवाद शांकर अद्वैतवाद से श्रेष्ठ है? और अपने आपको 'महाद्वैतवादी' कहने का अभिमान वे क्यों करते हैं? भेदसत्ता की सिद्धि के लिए उपस्थापित समस्त दृष्टिकोण और समस्त स्तर केवल वागाडम्बर मात्र में पर्यवसित हो जाता है। माया, अविद्या, भ्रान्ति, अज्ञान, अपोहन, तिरोधान, आवरण आदि प्रत्यय काश्मीर शिवाद्वयवाद में भेदप्रत्यय के उपव्याख्यान के रूप में आते हैं, और वे सब कुछ व्यवहारसत्ता की प्रतिष्ठा में सहायक होते हैं। इन सभी प्रत्ययों का तात्त्विक विवेचन करने से लगता है कि काश्मीर शिवाद्वयवाद शांकर अद्वैतवाद की सैद्धान्तिक छाया से अनेकांशतः ग्रस्त है और अपने आपको 'महाद्वैतवादी' के रूप में स्थापित करने का भाव केवल दुराग्रहग्रस्त है—यह कहा जा सकता है। यद्यपि भेद का तार्किक विवेचन भी इस अध्याय में विस्तारपूर्वक आचार्य रस्तोगी ने किया है, और अन्ततोगत्वा 'भेद' को 'अन्योन्याभाव' के रूप में व्याख्यायित करने से दोष-मुक्त होना सम्भव नहीं, यही मान कर 'भेद अभेद का अवस्थान्तर है' (पृ. 145) और 'भेदरूपेण परिदृश्यमान् सभी पदार्थों में अभेदरूप प्रकाश की अनुस्यूति अविच्छिन्न रूपेण परिगृहीत है' (पृ. 145)—इसी युक्ति के आधार पर भेद की सिद्धि मानी जाएगी—यह कहते हैं। उनकी यह युक्ति भी आपातरमणीय ही है। हमारे विचार में आचार्य रस्तोगी भेद-प्रत्यय की विवेचना से ही स्वीय ग्रन्थ की प्रस्तावना करते हुए साध्य प्रत्ययों का उपसंहार पूर्णता-प्रत्यय में करते तो बहुत अच्छा होता।

(ग्यारह)

एकादश अध्याय का विचार्य विषय 'प्रत्यभिज्ञा' काश्मीर शिवाद्वयवाद की दार्शनिक भित्ति की प्रतिष्ठा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधारशिला मानी गयी है।

आचार्य रस्तोगी इस अध्याय में 'प्रत्यभिज्ञा' पद के व्युत्पत्तिगत अर्थ से लेकर प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय की ऐतिहासिक और उद्विकासात्मक दृष्टि से विकास-परम्परा को दिखते हुए अवधारणात्मक दृष्टि से वेद-वेदान्त-मीमांसा-सांख्य-बौद्ध-जैन-न्याय-वैशेषिक परम्परा में प्रत्यभिज्ञा की अवधारणा की आलोचना करते हुए शैवागम परम्परा में इसकी मर्यादा और महत्ता पर प्रकाश डालते हैं। इन विषयों का सावहितभाव से अध्ययन करने से लगता है कि समग्र भारतीय दर्शन-परम्परा में प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन के पुनरनुसन्धान और पुनर्व्यवस्थापन की महती आवश्यकता है। प्रमाणशास्त्रीय पुनर्व्यवस्थापना अथवा पुनःसंरचना की आवश्यकता के लिए यद्यपि रस्तोगी जी स्वयं साक्षात् स्वकीय विचार और तर्कों की अवतारणा नहीं करते तथापि कुछ विचार और तर्क उस दिशा में प्रवृत्ति के लिए चिन्तकों के मन में पर्याप्त उन्मेष उत्पन्न करने में सहायक हो सकता है।

सामान्यतः 'इन्द्रियसहकृत-संस्कारजन्यज्ञानं प्रत्यभिज्ञा'—यह प्रत्यभिज्ञा का लक्षण माना जाता है, जिसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के साथ-साथ अर्थसम्बद्ध पूर्वोत्पन्न संस्कार भी प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान का कारण माना जाता है। इससे 'प्रत्यभिज्ञा' को 'प्रत्यक्ष' के ही एक भेद के रूप में मान लिया जाता है। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' के साथ साथ 'संस्कार' को भी ज्ञान का कारण मान लेने से 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि स्थल में उत्पन्न प्रत्यक्ष विशेष को प्रत्यभिज्ञा माना जाता है, जो कि उपर्युक्त द्वितीय प्रकार के प्रसङ्ग में सटीक बैठता है—और प्रत्यभिज्ञा सम्बन्ध में यही मान्यता लोकप्रसिद्ध भी है। इस प्रकार के ज्ञान को काश्मीर शिवाद्वयवाद की दार्शनिक शब्दावली में 'भात और भासमान के अनुसन्धान' के रूप में परिभाषित किया गया है (पृ. 166)। बात अगर इतने में समाप्त हो जाती तो कोई समस्या नहीं रहती; किन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद में कहा जाए तो समस्त प्रकार के (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञान प्रत्यभिज्ञात्मक ही होते हैं—यह एक साहसिक मान्यता कही जा सकती है, जिसमें प्रथम दृष्ट्या किसी भी पदार्थ के स्वरूप/स्वभाव अथवा वैशिष्ट्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी समाहित होता है।

डॉ. काँव का मत उद्धृत करते हुए प्रत्यभिज्ञा के प्रसङ्ग में नैयायिकों की 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' से उसके साम्य की समस्या का प्रस्ताव भी आचार्य रस्तोगी करते हैं। (पृ. 167) किन्तु इस बात पर रस्तोगी जी स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा यद्यपि सविकल्पक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है, तथापि सविकल्पक प्रत्यक्ष से इसका अभेद नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में स्मृत्यंश की प्रधानता रहती है, जो वर्तमानकालिक अनुभव का विशेषण बन जाता है, जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में स्मृत्यंश वर्तमान कालिक अनुभव से एकाकार हो जाता है। (पृ. 166) किन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि—क्या नैयायिक सविकल्पक प्रत्यक्ष में 'स्मृत्यंश' और 'प्रत्यक्षांश' (वर्तमानकालिक अनुभव) में ऐक्य मानते हैं? अगर यह मान्यता उन्हें स्वीकृत होती तो प्रत्यक्ष का 'ज्ञानकरणकं ज्ञानम्' यह लक्षण स्वतः निरस्त हो जाता है। अपरं च, प्रत्यक्ष की कारण सामग्री में 'स्मृत्यंश' का समावेश होने से नैयायिकों का प्रत्यक्ष विषयक सिद्धान्त काश्मीर शिवाद्वयवाद के प्रत्यक्षसिद्धान्त के तुल्यकक्ष ही माना जाता है। किन्तु यह सच नहीं है।

सम्भव है एस.सी. चटर्जी के मत का अनुवाद करते समय आचार्य रस्तोगी स्वयं शिवाद्वयवाद-वासनावासितान्तःकरण होने के कारण ऐसी बात कह गये हों, अथवा एस.सी. चटर्जी ही स्वयं इस विषय में भ्रान्त रहे हों।

आचार्य रस्तोगी के प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी विचारों का अवलोकन करने से विदित होता है कि-काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रत्यभिज्ञा की स्वीकृति के पीछे केवल एक स्वतन्त्र प्रमाणमीमांसीय प्रस्थान की प्रतिष्ठा के लिए 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' इस विधा से कोई दुराग्रह नहीं था, बल्कि विशिष्ट सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए 'प्रत्यभिज्ञा' की नितरां आवश्यकता थी। 'प्रत्यभिज्ञा' द्वारा 'भात व भासमान' अंश सामानाधिकरण्येन उपस्थित होते हैं, और यह एक उभय-मेलनात्मक प्रक्रिया है जहाँ भूतकालिक व वर्तमानकालिक विमर्शों के एकीकरण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। (पृ. 169) आचार्य रस्तोगी का यह विचार अत्यन्त रमणीय है। किन्तु हम इस से एक कदम आगे जाकर यह कहना पसन्द करेंगे कि, केवल 'भात व भासमान' (भूत व वर्तमान) पदार्थों की मेलनात्मक प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा द्वारा सम्भव होती है, ऐसी बात नहीं, बल्कि भासमान् अनेक पदार्थों का एकीकृत विशिष्ट ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा के बिना सम्भव नहीं होगा। लोकव्यवहार के लिए विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता है और विशिष्टज्ञान की ग्राहिका है प्रत्यभिज्ञा-यह निःसंकोच भाव से कहना चाहिए था आचार्य रस्तोगी को। इसमें ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की एक स्वतन्त्र प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठा का चारितार्थ्य निहित है। अतएव प्रत्यभिज्ञा केवल 'भात व भासमान्' के बीच मेलनात्मक प्रक्रिया की व्यवस्थापिका नहीं है बल्कि ज्ञानमीमांसीय चिन्तन की एक पार्यन्तिक भूमि की प्रतिष्ठापिका है और यह वाद ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में निर्विशेष रूप से स्थापित हो सकता है। यहाँ स्मृत्यंश-प्रत्यक्षांश का एकीकरण ही प्रत्यभिज्ञा है-ऐसा नहीं माना जाना चाहिए; किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से एकल उपस्थित अनेक पदार्थों के एकीकरण में, योजना में, मेलन में भी प्रत्यभिज्ञा की रचनात्मक भूमिका (जैसे 'भूतले घटः' आदि विशिष्ट प्रत्यक्ष स्थल में) स्वीकार की जानी चाहिए। यही अभिनव गुप्त का अभिप्राय लगता है; क्योंकि आचार्य रस्तोगी स्वयं प्रत्यभिज्ञा के सम्बन्ध में कहते हैं-"अभिनव गुप्त न केवल आत्मविषयक निर्विकल्पक स्मृति की प्रत्यभिज्ञारूपता बतलाते हैं, अपितु उनके अनुसार तो घटादि विषयक सविकल्पक स्मृति भी प्रत्यभिज्ञान रूप ही है।" (पृ. 170) यहाँ यह टिप्पणी उचित होगी कि उपर्युक्त वाक्यांश में 'सविकल्प स्मृति' के स्थान पर 'सविकल्प ज्ञान' कहना उचित होगा, क्योंकि प्रबन्धान्त टिप्पणी में उद्धृत अभिनव गुप्त के वाक्य में 'घटमहमन्वभूवम् ...' इत्यादि प्रयोग किया गया है, जो साक्षात् अनुभव के प्रति संकेत करता है न कि केवल 'स्मृति' के प्रति।

अवधेय है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में काश्मीर शिवाद्वयवाद की ज्ञान-मीमांसीय प्रस्थापनाओं पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना कि वस्तुतः दिया जाना चाहिए था। अतः हमारे विचार में काश्मीर शिवाद्वयवाद के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के प्रति सावहित भाव से पुनरनुसन्धान करना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे प्रत्यक्षस्वरूप के

पुनर्विमर्श के साथ-साथ इतर दर्शन प्रस्थानों की तुलना में इस दर्शन प्रस्थान में प्रत्यभिज्ञा की प्रतिष्ठा 'कैसे है' इस प्रश्न पर नहीं, बल्कि 'क्यों है' इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सके।

(बारह)

अध्याय बारह, तेरह और चौदह में क्रमशः काश्मीर शिवाद्वयवाद में वर्णित भक्ति, योग और उपाय-चतुष्टयों की विवेचना प्रस्तुत की गई है। ये सभी प्रत्यय साधन-प्रत्यय के रूप में जाने जाते हैं। 'शिवात्म्यैक्यभाव' की उपलब्धि ही इन साधनप्रत्ययों का ध्येय है। भक्ति उन साधन प्रत्ययों में से एक है। भक्ति के विषय में जो सर्वाधिक विवादास्पद रहा वह यह है कि भक्ति चूँकि भक्त-भक्ति-भगवान् अथवा पूजा-पूजक-पूज्य की त्रिपुटी के बिना सम्भव नहीं होती अतएव अद्वैतवाद में भक्ति सम्भव नहीं है। अद्वैत दृष्टि से भक्ति की प्रतिष्ठा एक दुःसाध्य व्यापार माना जाता रहा है। अतएव कुछ अद्वैतवादी चिन्ताधाराओं में 'भक्तिज्ञानाय कल्प्यते' कहते हुए 'ज्ञानेनैव मुक्ति' का सिद्धान्त मान लिया गया है। किन्तु आचार्य रस्तोगी ने काश्मीर शिवाद्वयवाद में 'ज्ञान, भक्ति और योग का अपूर्व समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास है' प्रतिपादित किया है और इस प्रश्न पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है कि ज्ञान-निरपेक्ष भक्ति भी मुक्ति-साधिका है या नहीं।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में भक्ति की अपरा व परा भेद से द्विविध व्यवस्था दी गई है। द्वैत भक्ति और अद्वैत भक्ति के रूप में भी यह द्विविधा भक्ति जानी जाती है जो इतर सम्प्रदायों में सगुण भक्ति/उपासना और निर्गुण भक्ति/उपासना नामों से अभिहित होती है। 'बाह्य पूजा' का सम्बन्ध 'अपरा भक्ति' से है और 'आन्तर पूजा' का 'परा भक्ति' से, जिसमें पूजक ही पूज्य हो जाता है। 'शिवः केवलोऽहम्' भावधारा से उसकी चित्तवृत्ति परिप्लावित हो जाती है। आचार्य रस्तोगी द्वैत भक्ति से अद्वैत भक्ति की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कहते हैं कि—“द्वैत भक्ति में मात्र शिवता की आकाङ्क्षा रहती है, जबकि अद्वैत भक्ति सद्यः समावेशमयी होती है।” इस भक्ति की विपक्वावस्था का नाम ही मुक्ति है। (पृ. 160) यही अद्वैत भक्ति उपनिषद् में 'आत्मभक्ति' नाम से जानी जाती है। उपनिषदों में 'आत्मोपासना' को महिमान्वित किया गया है (आत्मेत्येवोपासीत, बृह. उप.)। आत्मोपासना की चरम परिणति 'आत्मरति', 'आत्मक्रीड़ा' व 'आत्मोपलब्धि' में है। अतएव काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रतिपादित भक्ति औपनिषद आत्मोपासना का प्रगत रूपान्तरण मात्र कहा जा सकता है, जो 'सर्व समावेशात्मक है, फलतः अद्वैत के सिद्धान्त के विरोध में कहीं नहीं जाती। अतः भक्ति का चरमोत्कर्ष अद्वैतात्मप्रतिष्ठा में पर्यवसित है—यही निष्कर्षतः कहा जा सकता है। 'आत्मभक्ति', 'आत्मरति' व 'आत्मक्रीड़ा' इत्यादि अद्वैत परक भक्ति के मूल स्रोतों के प्रति आचार्य रस्तोगी के विचारों का और परामर्श होना अपेक्षित था, किन्तु यहाँ भी पाठकवर्ग उससे वंचित रह गये हैं।

(तेरह)

योग-प्रत्यय का विवेचन तेरहवें अध्याय में भी उतना ही परिस्पन्दात्मक सम्प्रेषणीयता के साथ देखने को मिलता है जितना कि दूसरे अध्यायों में हम अनुभव कर चुके हैं। योग-प्रत्यय से सम्बन्धित भारतीय चिन्तन में सम्भवतः ऐसा कोई आयाग नहीं रहा जिसका परामर्श यहाँ नहीं किया गया हो। पातञ्जल योगदर्शन प्रतिपादित चित्तवृत्तिनिरोध रूपक योग के पारिभाषिक परिष्कार से लेकर श्रीमन्महाभारत (तथा श्रीमद्भगवद्गीता) के 'योगः कर्मसु कौशलम्' रूपक और 'प्रवृत्तिलक्षणो योगः' तक पारिभाषिक परिष्कारों का चिन्तन इस अध्याय में मित और सारगर्भित रूप में आचार्य रस्तोगी ने किया है। भारतीय परम्परा में योग मुख्यतः जिन दो धाराओं—अर्थात् मन का अनुशासनात्मक पातञ्जलानुसृत राजयोगापराभिधान योग पद्धति तथा च शरीर का अनुशासनात्मक हठयोगप्रदीपिका इत्यादि ग्रन्थोक्त हठयोग-संज्ञक योग पद्धति रूप में मिलता है उनसे भिन्न एक तृतीय योग-धारा उपलब्ध है जो अतिमानस भूमि को स्पर्श करती हुई व्यक्ति की चिद्रूपता-प्रकाशन में सहायक होती है—उसका भी यहाँ परामर्श किया गया है। आचार्य रस्तोगी के अनुसार—“शिवाद्वयवाद में अभ्युपगत योग का सम्बन्ध इसी तीसरी धारा के विकास से जुड़ा हुआ है।” (पृ. 202) इस ग्रन्थ में योग विषयक समग्र चिन्तन में दार्शनिकों के चित्त-विनोदक विचार्य विषय हैं। काश्मीर शिवाद्वयवादियों का 'षडङ्गयोग', जो कि पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग का परिष्कृत और प्रगत रूप है, इस सम्प्रदाय में स्वीकृत है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूपक पतञ्जलि-प्रोक्त अष्टांग योगों में से प्रथम त्रितय (यम, नियम, आसन) को छोड़कर प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि के साथ 'तर्क' को भी एक योगाङ्ग माना जाता है इस परम्परा में। तन्त्रालोक विवेक में कहा गया है—

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।

तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ (पृ. 631)

आचार्य रस्तोगी ने यहाँ पर 'तर्क' का स्वरूप और योगाङ्ग के रूप में यौक्तिकता तथा प्रासंगिकता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए इस सम्प्रदाय में षडङ्ग योग का विवेचन प्रतितन्त्र पद्धति से सुन्दर ढंग से किया है। 'संवित्साक्षात्कार केवल तर्कलभ्य है', (पृ. 205)—यह शिवाद्वयवाद में अत्याग्रह सा लगता है। यहाँ तक तर्क को 'उत्कृष्ट अङ्ग' (पृ. 206) माना गया है। तर्क के विचार-प्रसंग में 'सत्तर्क' और 'ऊह' की बात आई है। तर्क के उत्कर्ष के प्रसंग में यह कहा जाता है कि—“तर्क बुद्धि की वह स्थिति है जिसमें वह हेय और उपादेय का विवेक कर सकती है, और हेय मार्ग में प्रवृत्त मन को भी अनामय पद की ओर प्रेरित कर सकती है।” (पृ. 206)

निरुक्तकार के वचन को सन्दर्भित करते हुए आचार्य रस्तोगी तर्क की प्रतिष्ठा में कहते हैं—“ऋषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्य ने देवताओं से पूछा कि हमारे मध्य

अब ऋषि का काम कौन करेगा? इसके समाधान में देवताओं ने मनुष्य को तर्क शक्ति दी और कहा कि यही अब तुम लोगों के बीच ऋषि का काम करेगी।”⁵ (पृ. 207) तर्क की यह प्रतिष्ठा उक्ति श्रुतिप्रस्थानोक्त ‘नैषा तर्केण मतिरापनेया’ (कठ.3/6) तथा सूत्रप्रस्थानोक्त ‘तर्काप्रतिष्ठानात्’ (ब्र.सू.2.1.12) इत्यादि वचनों का विरोध तो करती ही है, अपि च अयथार्थ ज्ञान के प्रकार विशेष के रूप में भी ‘तर्क’ न्याय शास्त्रीय परम्परा में प्रसिद्ध है—उसे भी अमान्य करती है। इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए महाद्वयवादी काश्मीर शैवागम परम्परा में समाधि से भी बढ़कर सर्वोत्तम योगाँग के रूप में ‘तर्क’ को महिमा मण्डित करने के पीछे क्या कारण हो सकता है—वह इतोऽपि व्यापक दृष्टि से अनुसन्धेय है। प्रमाणमीमांसीय प्रवृत्ति के चलते ‘प्रत्यभिज्ञा’ से ही सविकल्पक ज्ञान की ग्राह्यता और प्रामाण्योपलब्धि के लिए तर्क जिस कोटि पर आरूढ़ है काश्मीर शिवाद्वयवादी उसी से कहीं अभिभूत हो कर ‘तर्क’ को योगाङ्ग के रूप से अकुण्ठभाव से महिमा मण्डित करना उचित नहीं समझ बैठा हो। यह विषय इतोऽपि अधिक गहन अनुध्यान का विषय है और आत्मोपलब्धि अथवा शिवैकात्म्यानुभूति के लिए तर्क को उत्कृष्ट योगाँग मानना क्या केवल अर्थवाद वाक्य है या श्रुतियुक्त्युपपत्तिपूर्वक अनुभूति संवलित सार्थक वाक्य है?—यह भी विचार्य है। जो भी हो, योग का यह नूतन रूप दिगन्त अनुसन्धित्सु मन को नई गवेषणा में पर्याप्त अनुप्राणित करेगा—यह निःसन्देह भाव से कहा जा सकता है।

(चौदह)

उपाय-चतुष्टय इस ग्रन्थ का अन्तिम विचार्य विषय रहा है। काश्मीर शैवागम-परम्परा एक स्वतन्त्र दर्शन-प्रस्थान की स्थापना मात्र के प्रति उद्दिष्ट न थी, वह परमपुरुषार्थ की उपलब्धि में सहायिका तपःपूत पवित्रात्मा मनीषियों के स्वानुभूत सत्य की ऐसी पार्यन्तिक अवधारणा भी थी जिस में ज्ञान-भक्ति-योग का अपूर्व समन्वय परिदृष्ट होता है। ऐसे तो सभी भारतीय दर्शन-प्रस्थान पुरुषार्थोपयिकतया केवल तत्त्वमीमांसा मात्र पर्यवसायी नहीं हैं, तथापि काश्मीर शिवाद्वयवाद में परमपुरुषार्थ की उपलब्धि के साधन के रूप में जो साधनाओं के प्रशस्त आयामों का सविस्तृत विवरण मिलता है वह शायद ही और कहीं हो। उन साधनाओं को इस परम्परा में उपाय-चतुष्टय नाम से जाना जाता है। उपाय-चतुष्टय की तात्त्विक और तार्किक प्रतिष्ठा का श्रेय अभिनव गुप्त को जाता है। आचार्य रस्तोगी कहते हैं—

“काश्मीर शिवाद्वयवाद में उपाय-चतुष्टय की अवधारणा सम्भवतः आचार्य अभिनवगुप्त की मौलिक उद्भावन है। यद्यपि उनसे पूर्व ‘शिवसूत्रों’ में प्रायः वे सभी सिद्धान्त व साधना- विधियाँ बीज रूप में उपलब्ध होती हैं पर उनको सारे तान्त्रिक चिन्तन का सार बनाकर एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का मौलिक योगदान आचार्य अभिनवगुप्त का ही है।” (पृ. 222)

वे उपाय-चतुष्टय हैं—आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय और अनुपाय। अभिनवगुप्त स्वीय तन्त्रालोक ग्रन्थ में इन उपायों को 'चार ज्ञानोपाय' कहते हैं (पृ. 222)। ये सारे उपाय यद्यपि अन्ततः ज्ञान रूप ही हैं तथापि इन उपायों के मध्य एक द्वार-द्वारिभाव की कल्पना की गयी है। अर्थात् इस सम्प्रदाय में इन उपायों में एक क्रमिक तारतम्य है। आणवोपाय शाक्तोपाय का द्वार है, शाक्तोपाय शाम्भवोपाय का और शाम्भवोपाय अनुपाय का द्वार है। (पृ. 223) आणवोपाय से कर्ममल का क्षय होता है, शाक्तोपाय से मायीयमल का तथा शाम्भवोपाय से आणवमल का क्षय होता है। अनुपाय के सन्दर्भ में आचार्य रस्तोगी का मानना है कि परमेश्वर की इच्छा तो नियतिकृत नियमों से स्वतन्त्रतया भी व्यापार करती है, अतः अनुपाय की स्थिति में बिना किसी क्रम के एक साथ सारे मलों का क्षय हो कर विशुद्ध प्रकाशरूप स्वात्मसंवित् की प्राप्ति होती है। (पृ. 225) अन्तिम अनुपाय की स्थिति चिदानन्दमयी मानी गई है। इस स्थिति में मात्र परमेश्वर की इच्छामात्र से उस चिदानन्दरूपता का लाभ हो जाता है। यह प्रसंग शांकर अद्वैतवाद में साधन-चतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता को चित्तशुद्धि के द्वारा अधिकारी मानते हुए भी 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुति-वाक्यों के आधार पर वैराग्य को साक्षात् आत्मसाक्षात्कार के लिए कारण माने जाने के समानान्तर विचार के रूप में दिखाया जा सकता है।

इन उपाय-चतुष्टयों के साथ सभी दार्शनिक दृष्टियों की व्याख्या करने का प्रयास भी किया गया है। समस्त द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत दृष्टियों का स्रोत उसी पूर्ण परतत्त्व को सिद्ध करने में ही चरितार्थ होता है। आचार्य रस्तोगी की विवेचना में—“आणवोपाय में भेदात्मक चेतना का प्राधान्य है, अतः परम प्रकाश तत्त्व तक पहुँचने का जो मार्ग भेददृष्टि-प्रधान है वह इस उपाय द्वारा गृहीत है। शाक्तोपाय में भेदाभेद दृष्टि की प्रधानता है, अतः भेदाभेदात्मक दृष्टि-प्रधान मार्ग इस उपाय द्वारा गृहीत है, तथा अद्वैत दृष्टि-प्रधान मार्ग को शाम्भवोपाय में समेटा गया है, क्योंकि यहाँ अभेदात्मक बुद्धि की ही प्रधानता है। अनुपाय वस्तुतः उस पूर्ण तत्त्व के ही स्तर का है जहाँ सारी दृष्टियाँ समरस हैं।” (पृ. 224)

आचार्य अभिनवगुप्त पूर्णचिदानन्द सम्प्राप्ति के लिए यद्यपि साधना के रूप में उपाय-चतुष्टय की महत्ता का सुविस्तृत रूप से वर्णन करते हैं, तथापि दार्शनिक तत्त्वमीमांसा अथवा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से इन उपायों का परामर्श नहीं करते। दार्शनिक सन्दर्भ में वे अपने गुरु उत्पल के मत का पूर्णतः अनुगमन करते हुए मात्र प्रत्यभिज्ञा को ही उस विशुद्ध संवित् तत्त्व को जानने का साधन मानते हैं। अतः आचार्य रस्तोगी निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि—“उपाय-कल्पना पूर्णतः तान्त्रिक सन्दर्भ में प्रस्तुत दृष्टि है जिसका दार्शनिक सन्दर्भ से सीधा सम्बन्ध नहीं है।” (पृ. 226) यह निष्कर्ष वस्तुतः सराहनीय है और यह काश्मीर शिवाद्वयवाद में विचारकों के दो वर्गों के प्रति संकेत करता है—एक दार्शनिक वर्ग और दूसरा साधकवर्ग अथवा तान्त्रिकवर्ग। दार्शनिक वर्ग सिद्धान्त प्रधान होता है और तान्त्रिक वर्ग प्रयोगप्रधान। प्रयोग का यद्यपि सिद्धान्तानुगुण होना आदर्श माना जाता है तथापि प्रयोग में

अनिवार्यक्रम-प्रधानता की दृष्टि से तथा च आनुषङ्गिक व्यवस्था के अनुसार प्रवृत्ति से स्वीय स्वातन्त्र्य को गोपनीय नहीं रखा जा सकता है। अतः प्रयोग का सिद्धान्त-अननुगुण होना स्वाभाविक भी माना जाता है। किन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद में दोनों का सामञ्जस्य काफी हद तक उचित ताल-मेल में बैठता दिखता है। किन्तु उपाय-चतुष्टयों के सन्दर्भ में जो भेद, भेदाभेद और अभेद दृष्टियों को एक पौर्वापर्यग्रस्त अथवा अनुक्रमानुप्राप्त क्रमव्यवस्था में स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है वह तुल्यसैद्धान्तिकानुगुण्य प्रतिष्ठा का और एकबुद्ध्यनुगम का विषय नहीं बनता, क्योंकि वे सब परस्पर विरुद्ध हैं और उन्हें अपरसमावेशी भी नहीं माना जा सकता।

अस्तु! इस अध्याय में आचार्य रस्तोगी आणवोपाय आदि उपाय-चतुष्टयों का व्युत्क्रम से (अनुपाय से) विस्तृत विवेचन करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं। इस ग्रन्थ में तत्तद्विषयक/प्रकरणानुगुण तथ्यों के समायोजन से लेकर विषयोपस्थापना, तात्त्विकविवेचना तथा परिमार्जित निष्कर्षोपस्थापना तक जिस सूक्ष्मदृष्टि और प्रज्ञाप्रकर्ष का निदर्शन हुआ है, वह अन्यत्र विरल है—यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है।

अच्युतानन्द दाश,

संस्कृत विभाग,

सागर विश्वविद्यालय,

सागर (म.प्र.)

पुस्तक-समीक्षा

कार्यकारणभाव मीमांसा : विद्वत्परिचर्चा

प्रकाशक श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी, गुजरात, 2004, पृ. 614,
मूल्य रु. 150/-

भारतीय दर्शनों के ऐतिहासिक विकास, और विशेष रूप से वेदान्त-परम्परा के दार्शनिक सम्प्रदायों के विकासक्रम में वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय काफी बाद का सम्प्रदाय है। अगर यह कहा जाये कि जब अनेक दर्शनसम्प्रदाय अपने यौवन को बिता चुके थे उस समय इस दर्शन ने अपने शैशव में पदार्पण किया, तो मैं समझता हूँ कि इसमें कोई गलती नहीं होगी। इसी कारण अन्य दर्शनों के साथ इस दर्शन का वैसा संवाद या विवाद नहीं हो पाया है जैसा संवाद न्याय का बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों के साथ या अद्वैतियों का विशिष्टाद्वैतियों और द्वैतियों के साथ हुआ है। शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय का दर्शन भी अपने आप में बड़ी अद्भुत विशिष्टताओं को समेटे हुए है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के मतों का पूर्वपक्ष के रूप में समुपस्थापन तथा उनका भरपूर खण्डन उपलब्ध होता है। परन्तु शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय की आलोचना अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में नहीं के बराबर ही उपलब्ध है। एतदर्थ एक संवाद की कमी अनुभूत होती रही है। सम्भवतः इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी, कच्छ, गुजरात के द्वारा अनेक परिसंवादों व संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। इसका उल्लेख पुस्तक के प्रकाशक गोस्वामी शरदजी के द्वारा समीक्ष्य पुस्तक के आमुख में सुस्पष्ट रूप से किया गया है। परिसंवादों में अन्यान्य दर्शनों के परम्परागत उद्भट विद्वान आमन्त्रित होते हैं तथा उनके द्वारा प्रस्तुत आलेखों और चर्चाओं को पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक सन् 2000 में कार्यकारणभाव पर सम्पन्न संगोष्ठी के आलेखों का संकलन एवं परिचर्चा तथा संगोष्ठ्युत्तर लेखन के साथ सम्पादन है।

कार्यकारणभाव एक ऐसा विषय रहा है जिसने समस्त दर्शन-सम्प्रदायों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। लगभग समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों ने इस विषय पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है। इसके पर्याप्त कारण भी रहे हैं। वस्तुतः कार्यकारणभाव विषयक दृष्टिकोण उस-उस दर्शन की समग्र तत्त्वमीमांसा को प्रभावित करता है। अगर न्याय परम्परा की शब्दावली में यह कहा जाये कि कार्यकारण भाव विषयक सिद्धान्त समस्त दर्शनों में अधिकरण सिद्धान्त के रूप में सामने आता है तो इसे अतिशयोक्ति नहीं समझा जाना चाहिए। कोई भी दर्शन-सम्प्रदाय अपनी तत्त्वमीमांसा को अपने कार्यकारणभाव-विषयक सिद्धान्त के आधार पर ही व्यवस्थापित कर पाने में सक्षम हो पाता है।

प्रस्तुत पुस्तक कार्यकारण 'भाव' मीमांसा को दो तरीकों से देखा जा सकता है। इसे एक विशिष्ट विषय पर आयोजित संगोष्ठी के आलेखों के संकलन के रूप में भी देखा जा सकता है तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के एक विशिष्ट प्रकरण ग्रन्थ के रूप में भी देखा जा सकता है। मैं इस पुस्तक को शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के एक विशिष्ट प्रकरण ग्रन्थ के रूप में देखा जाना ज्यादा युक्तिसंगत पाता हूँ। मेरे ऐसा स्वीकार करने के अपने कारण हैं। इस पुस्तक की बुनावट इसे शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के एक विशिष्ट प्रकरण ग्रन्थ के रूप में देखे जाने के लिए विवश करती है। इसे केवल एक संगोष्ठी के आलेखों का संकलन मात्र समझना उचित नहीं होगा। संगोष्ठी के आलेखों के पूर्व गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमचरण के द्वारा लिखित अवतारवादावली से आविर्भावतिरोभाववाद का तथा गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमचरण के द्वारा ही लिखित प्रस्थानरत्नाकर से करणकारणसामान्यस्वरूपनिरूपक आद्यतरङ्ग का प्रकाशन किया गया है। वस्तुतः ये दो ग्रन्थ-भाग इस समीक्ष्य ग्रन्थ में संकलित समस्त आलेखों के लिए नींव की तरह हैं। समस्त आलेखों का विवेचन इन्हीं दोनों को पूर्वपक्ष या सिद्धान्तपक्ष बनाकर किया गया है। तदुपरान्त संगोष्ठी के प्रस्तुतीकरणों का संकलन है। मैं समझता हूँ कि आविर्भावतिरोभाववाद तथा करणकारणसामान्यस्वरूपनिरूपक आद्यतरङ्ग को इस ग्रन्थ का विषय प्रवर्तन समझना चाहिए।

आगे का ग्रन्थ उपक्रम, अजातिवाद, संघातवाद, विवर्तवाद, आरम्भवाद, सर्वसिद्धान्त संग्रहवाद, परिणामवाद (1), परिणमवाद (2), उपसंहार व परिशिष्ट प्रकरणों में विभक्त है। इन प्रकरणों के क्रम को निर्धारित करने का भी एक विशिष्ट प्रयोजन व संगति है, जिसे हम प्रकरणग्रन्थों में ही पाते हैं। ये इस आलेख-संग्रह को न केवल एक समग्र ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करने में सहायता करते हैं, अपितु अगर यह कहा जाये कि वाल्लभ सिद्धान्त के अनुसार इन आलेखों और इस ग्रन्थ में एक भेदसहिष्णु अभेदात्मक सम्बन्ध बन जाता है तो यह अतिशयोक्ति न होगी।

उपक्रम में गोस्वामी श्याम मनोहरजी के प्रारम्भिक वक्तव्य से संगोष्ठी की शुरुआत होती है। गोस्वामी श्याम मनोहरजी न केवल शुद्धाद्वैत के गम्भीर विद्वान हैं अपितु प्राच्य व पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों में उनका गहन प्रवेश है। अपने विद्वत्तापूर्ण उपक्रम भाषण में उन्होंने अनेक ऐसे विषयों का स्पष्टीकरण किया है जो विद्वज्जनों के लिए विचार का एक नवीन मार्ग आविष्कृत करते हैं। समस्त दर्शनों के उत्स पर अपने विचार रखते हुए उन्होंने कहा है कि समस्त दर्शनों के विकास को हम तीन चरणों में समझ सकते हैं—अनुभूति, व्याख्या और उत्प्रेक्षा। अनुभूति को वे दो भागों में बाँटते हैं—लौकिक व अलौकिक। लौकिक अनुभूति में वे गणना करते हैं लौकिक प्रमाणों की, तथा अलौकिक प्रमाणों में वे समाधिजन्य अनुभूति आदि की व्याख्या का भेद करते हुए उसे पदव्याख्या व पदार्थव्याख्या के रूप में विभाजित करते हैं। पदव्याख्या के भेदों को बताते हुए वे कहते हैं कि पद, वाक्य व प्रकरणों के रूप में प्रकट होते हुए दर्शनों को हम इस प्रभेद के अन्तर्गत रख सकते हैं। पदार्थ व्याख्या के निदर्शन के रूप में वे नव्यन्याय तथा वैशेषिक आदि दर्शनों को रखते हैं।

तृतीय चरण उत्प्रेक्षा को मानते हुए वे इन उत्प्रेक्षाओं के प्रमाणमूलक व निरंकुश ये दो भेद करते हुए इनमें प्रमाणमूलक उत्प्रेक्षाओं को दर्शन के विचारक्रम को आगे बढ़ाने वाला मानते हैं। इस तरह दर्शनों की प्रवृत्ति के आधार पर वे दर्शनों को षड्विध मानने की बात करते हैं। मुझे लगता है कि यह दृष्टि दर्शनों को समझने के लिए एक आधारशिला का निर्माण कर सकती है। इस आधार पर हम भारतीय दर्शनों को और पाश्चात्य दर्शनों को एक समान आधार देते हुए उनमें तुलना भी कर सकते हैं। ध्येय है कि बहुत समय तक हम आक्षेप चर्चा में रहे कि भारतीय दर्शनों को किस तरह दर्शन माना जा सकता है? पाश्चात्य दर्शनों की प्रवृत्ति भारतीय दर्शनों से एकदम भिन्न किस्म की दिखायी देती है। गोस्वामी श्याम मनोहरजी का इस तरह से किया गया श्रेणी विभाग हमें पाश्चात्य दर्शनों व भारतीय दर्शनों दोनों को एक छत के नीचे लाकर खड़ा करने में मदद कर सकता है।

शुद्धद्वैतवाद सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों का व्यवस्थापन करने के लिए समग्रतया श्रुतियों पर निर्भर करता है। रंचमात्र भी श्रुतिकथन से इधर-उधर होना इस दर्शन में स्वीकार्य नहीं है। श्रुतिजन्य अनुभूति अलौकिक अनुभूति के रूप में परमप्रमाण के रूप में इस दर्शन में स्वीकार्य है। इसी के आधार पर शुद्धद्वैतवाद की कार्यकारणभावविषयक अवधारणा व्यवस्थापित की जाती है। इस उपक्रम में गोस्वामी श्याममनोहरजी ने शुद्धद्वैतवाद की कार्यकारणभावविषयक अवधारणा के आधार को सुस्पष्ट किया है। शुद्धद्वैतवाद की कार्यकारणभावविषयक मीमांसा का प्रथम आधार तो ब्रह्मवाद है। निष्कर्ष के रूप में श्रुति है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। कुछ अन्य श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म की विरुद्धधर्माश्रयता का प्रतिपादन किया जाता है। यह विरुद्धधर्माश्रयता तार्किक आधारों पर तो भले ही व्यवस्थापित न की जा सकती हो, परन्तु श्रुति पर आधारित होने के कारण इस पर कोई प्रश्न उठाना सम्भव नहीं है। आखिर अनुभूति का अपलाप किस तरह से किया जा सकता है? इन श्रुतियों का अभिप्राय समस्त जगत् का ब्रह्मरूपत्व प्रतिपादित करना है तथा यह कार्य ब्रह्म को इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान मानकर ही किया जा सकता है। साथ ही साथ इस कार्य के लिए माया का सहारा भी नहीं लेना है, जैसाकि शांकरवेदान्त में लिया गया है, क्योंकि माया का सहारा लेने पर अनेकता को मिथ्या मानना पड़ेगा और सो, श्रुति का अपलाप करना होगा। आचार्य शंकर भी श्रुतियों का परमप्रामाण्य स्वीकार करते हैं। श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म की विरुद्धधर्माश्रयता का जो प्रतिपादन किया गया है उसको गौण या अनुवाद मानना पड़ेगा। इस कारण बिना माया को बीच में लाये इस जगत् के प्रति ब्रह्म की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता का प्रतिपादन शुद्धद्वैतसम्प्रदाय करता है। यह देखना पर्याप्त रोचक है कि किस तरह से आचार्य शंकर व अन्य वेदान्तसम्प्रदाय श्रुतियों की व्याख्या अपने पक्ष में करते हैं। बानगी के तौर पर 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति को लिया जा सकता है। उपक्रम प्रकरण में इस श्रुति के शुद्धद्वैतसम्प्रदाय की अनुसारी व्याख्या का उपस्थापन करने में गोस्वामी जी ने समुचित युक्तियों का प्रयोग किया है। अपने इस विद्वत्पूर्ण अभिभाषण में अनेक अन्य विषयों का सुस्पष्टीकरण करते हुए गोस्वामीजी ने संगोष्ठी की पूर्वपीठिका तैयार की है।

उपक्रम प्रकरण में ही प्रो. वशिष्ठ नारायण झा के द्वारा प्रस्तुत आलेख 'Vallabha Theory of Cause and Effect Relationship' भी संगोष्ठी की पूर्वपीठिका ही है। इस आलेख में प्रो. वशिष्ठनारायण झा कहते हैं कि कार्यकारणभाव की अवधारणा हमारी अपनी पूर्वपरिकल्पनाओं के कारण हर एक दर्शन के अनुसार बदल जाती है। मूलभूत प्रश्न यह है कि हम अनेकता का अनुभव करते हैं जिसको कि सम्पूर्ण रूप में झुठलाया नहीं जा सकता है तो क्या हम स्वीकार करें कि एक से अनेक है या कि अनेक से एकानेक की व्याख्या करें? इस प्रकार चार सम्भावनाएँ हो सकती हैं—पहली यह कि अनेक भी है व एक भी। दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि एक नहीं है केवल अनेक हैं। तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि अनेक नहीं हैं केवल एक है। चौथी सम्भावना यह हो सकती है कि एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं हैं। इनमें से पहला पक्ष वाल्लभों का, दूसरा नैयायकों व वैशेषिकों का, तीसरा अद्वैतवेदान्तियों का तथा चौथा माध्यमिक शून्यवादियों का है। अपने इस आलेख में अन्य सम्प्रदायों के द्वारा उठायी जाने वाली आपत्तियों का समाधान करते हुए वाल्लभ सम्प्रदायानुसारी कार्यकारणभाव विषयक सिद्धान्त को वे व्यवस्थापित करते हैं।

प्रो. वशिष्ठनारायण झा के द्वारा प्रस्तुत आलेख पर की गयी चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस चर्चा में अनेक विषयों पर बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। शुद्धाद्वैतमत के अनुसार प्रलय के समय किस तरह से जागतिक विषयों का स्वीकार वाल्लभ करते हैं, इसका विस्तार से तथा सुस्पष्ट विवेचन गोंस्वामी श्याम मनोहरजी के द्वारा किया गया है। सम्भवतः इसे किसी एक अन्य स्थल पर इतने विस्तार से प्राप्त करना सम्भव न होगा। इसी प्रसंग में यह भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है कि वाल्लभ ब्रह्म में विरुद्ध धर्माश्रयता को स्वीकार करते हैं तो क्या यह जैनियों के अनेकान्तवाद के समतुल्य नहीं है? इस प्रश्न का जैसा उत्तर इस चर्चा में सामने आया है उसे पूर्ण उत्तर सम्भवतः नहीं कहा जा सकता है। शून्यवादियों के पक्ष का जैसा प्रतिपादन प्रो. वशिष्ठनारायण झा ने किया है उस पर कुछ नवीन किस्म की आपत्तियाँ प्रो. एस.आर. भट्ट ने उठयी हैं। अपने पक्ष को उपस्थापित करते हुए वे कहते हैं कि—“सभी वस्तुएँ परभाव को लिए हुए हैं, स्वभाव वाली नहीं हैं, लेकिन स्वभाव-शून्यता को आप भावशून्यता मत मानिये। हम लोग जो भ्रान्ति कर रहे हैं वह भ्रान्ति हमारे पूर्वाचार्यों ने भी की है” (पृ. 41)। प्रो. एस.आर. भट्ट इस प्रकार कहते हुए पूरी परम्परा को किसी अंश में भ्रान्ति का शिकार बता रहे हैं, ऐसा मुझे लगता है। यहाँ पर मैं नागार्जुन की माध्यमिककारिका से एक कारिका को उद्धृत करना चाहता हूँ—नागार्जुन कहता है कि—“नहि स्वभावो भावनां प्रत्ययादिषु विद्यते। अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते।” (माध्यमिककारिका 1/5) इस कारिका के द्वारा मैं समझता हूँ कि न केवल नागार्जुन स्वभाव के अभाव की उद्घोषणा कर रहा है अपितु परभाव के अभाव की भी उद्घोषणा इसके द्वारा की जा रही है। वस्तुतः पर का स्वभाव ही परभाव कहा जा सकता है। अगर समस्त वस्तुएँ स्वभावशून्य हैं, तो आखिर किस प्रकार परभाव की भी बात की जा सकेगी? ऐसा लगता है कि कुछ नवीनता का अन्वेषण करने का प्रयास करते हुए प्रो.

एस.आर. भट्ट ही किसी भ्रान्ति के शिकार हो गये हैं। मैं समझता हूँ कि स्वभावशून्यता को स्वीकार करने पर पर-भावशून्यता का भी स्वीकार अवश्यम्भावी है।

इसके उपरान्त आता है प्रो. एन.एस. ताताचार्य के द्वारा किया गया अध्यक्षीय उद्बोधन। इस उद्बोधन में नैयायिकों पर शुद्धाद्वैतियों के द्वारा उठायी गयी अन्योन्याश्रय आदि से सम्बन्धित आपत्तियों का न्यायानुसारी उत्तर तथा शुद्धाद्वैतियों पर भी वे आक्षेप सम्भव हैं, यह विद्वत्तापूर्वक प्रतिपादित किया गया है। गो. श्याममनोहर जी ने उन आपत्तियों का समाधान अपने संगोष्ठ्युत्तर लेखन में किया है।

अगले अजातिवादप्रकरण में दो आलेख संगृहीत हैं। एक प्रो. यज्ञेश्वर शास्त्री का 'Ajativada of Sri Gaudapada and Avikrtaparinamavada of Sri Vallabhacarya : A study' और द्वितीय प्रो. राधेश्यामधर द्विवेदी का 'प्रतीच्यदार्शनिकह्यूममहाशयानां कार्यकारणभावप्रतिषेधेन सह भारतीयदार्शनिकानां साम्यवैषम्ये'। प्रो. यज्ञेश्वर शास्त्री ने अपने आलेख में बड़े विस्तार से अजातिवाद का उपपादन किया है। उनका मानना है कि गौडपाद के अनुसार न तो सत् की ही उत्पत्ति स्वीकार की जा सकती है और न ही असत् की। इसी कारण गौडपाद अजातिवाद के अपने सिद्धान्त पर निष्कर्ष के रूप में पहुँचते हैं। प्रो. शास्त्री के द्वारा बड़ी उत्तम रीति से गौडपाद का अभिमत स्पष्ट किया गया है। श्री वल्लभाचार्य के पक्ष का हवाला देते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री वल्लभाचार्य गौडपाद को विपरीत दृष्टि से देखते हैं (द्र.पृ. 74)। यहाँ मजेदार बात यह है कि इस आलेख पर चर्चा करते हुए बड़े विस्तार से गो. श्याममनोहर जी 'गौडपाद व वल्लभाचार्य में कोई विरोध नहीं है', ऐसा प्रतिपादित करते हैं। (द्र.पृ. 78) सम्भवतः यह अनेक विद्वानों की आखों को उद्घाटित करने का कार्य कर सकता है जो सामान्य धारणा के अनुसार यही सोचते हैं कि गौडपाद के अजातिवाद का तार्किक निष्कर्ष है आचार्य शंकर का विवर्तवाद। यह चर्चा बड़ी ही दिलचस्प व सारगर्भित है। मायावाद को क्यों स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए? शुद्धाद्वैतवाद हालाँकि माया को स्वीकार भी करता है, परन्तु इसे क्यों मायावाद नहीं कहा जा सकता, ब्रह्मवाद ही कहा जा सकता है, इस पर विस्तृत विचार इस चर्चा में किया गया है।

अगले प्रकरण का नाम संचातवाद है। इसमें दो आलेख संगृहीत हैं—पहला डॉ. रामचन्द्र माझी का 'A Possible View of Russell on the Theory of Causation of Suddhadvaita Brahmanavada' तथा द्वितीय डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का 'वैभाषिक एवं वाल्लभसम्मत कारणता-विचार का तुलनात्मक विमर्श'। डॉ. रामचन्द्र माझी यह विस्तार से बताते हैं कि रसेल ईश्वर की सत्ता को अज्ञेय मानते थे। ईश्वरविषयक प्रश्न उनके लिए मानवबुद्धि द्वारा आरोपित प्रश्न है। इसके ठीक विपरीत वाल्लभदर्शन समग्र संसार की व्याख्या ब्रह्म पर आधारित करता है तो इस कारण इन दोनों ही मतों में किसी साम्य को अन्वेषित कर पाना असम्भव सा प्रतीत होता है। इस आलेख में लेखक ने विस्तार के साथ यह व्यवस्थापित करने का प्रयास किया है कि सम्भवतः ईश्वरविषयक प्रश्न को रसेल

अविवेचनीय मान लेते हैं। वे इस सृष्टि की व्याख्या विज्ञान के नियमों के आधार पर करने के पक्षधर हैं। न तो वे वाल्लभदर्शन के अनुसार स्वीकार्य कारण में कार्याविर्भावक शक्ति को स्वीकार करते हैं और न तदाधारित कार्यकारणभाव को ही। इस आलेख पर संगोष्ठ्युत्तरलेखन करते समय गो. श्याममनोहर जी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ये दोनों ही दर्शन गोलाकार पृथ्वी पर परस्पर विरुद्ध दिशा में स्थित उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों की तरह हैं। हालाँकि वे इसकी भी सम्भावना व्यक्त करते हैं कि जिस तरह एक दिशा में चलते हुए उत्तरी ध्रुव से चलकर दक्षिणी ध्रुव पर पहुँचना असम्भव नहीं है, उसी तरह सम्भवतः रसेल की विचारधारा में आगे बढ़ते हुए वाल्लभवेदान्त के सिद्धान्त पर पहुँचना भी असम्भव नहीं दिखायी देता है। इसका वे मार्ग दिखाते हैं कि रसेल के अनुसार सृष्टि की परिवर्तनशीलता पर विचार करें तो चूँकि आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से समस्त कार्यों का कारण होना अनिवार्य नहीं है, इस कारण कार्यकारणविचार की कोई आवश्यकता नहीं दिखायी देती है। परन्तु कारकहेतुहेतुमद्भाव का स्वीकार न करें तो भी ज्ञापक हेतु का स्वीकार आवश्यक है। पुनश्च कारकहेतुहेतुमद्भाव को स्वीकार न करने पर ज्ञापकहेतुहेतुमद्भाव भी बन नहीं सकेगा। इस कारण सृष्टि की व्याख्या के लिए पदार्थविज्ञान की परिभाषाएँ व गणितशास्त्रीय नियम अपर्याप्त ही सिद्ध होंगे। उपर्युक्त युक्तियाँ विचारणीय हैं कि क्या वाकई ऐसा सम्भव है?

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का 'वैभाषिक एवं वाल्लभसम्मत कारणता-विचार का तुलनात्मक विमर्श' शीर्षक आलेख दो अत्यन्त विपरीत विचारधारा के सम्प्रदायों के कार्यकारणभावविषयक विचारों की तुलना करने का प्रयास है। अपने इस विस्तृत और सुविचारित आलेख में लेखक इन दो मतों में कुछ साम्य भी अन्वेषित करने में सफल रहा है। इस आलेख में लेखक वैभाषिक सम्प्रदाय की कार्यकारणभाव विषयक अवधारणा क्या है, इस पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी विचार करते हैं। दोनों सम्प्रदायों के अत्यन्त विजातीय मूल होने पर भी दोनों सम्प्रदायों की कार्यकारणभाव विषयक अवधारणा में साम्य खोजा जा सकता है। वैभाषिक परम्परा में कार्यकारणभाव की व्याख्या में कारण में द्रव्यतः विक्रिया का होना स्वीकार नहीं किया जाता है, वाल्लभसम्प्रदाय के अनुसार भी यह स्वीकार्य नहीं है। इस आलेख में लेखक के एक कथन से अपना विरोध दर्ज कराना मैं आवश्यक समझता हूँ। लेखक एक स्थल पर कहता है कि—“शांकरेतर वेदान्तदर्शनों में एकत्व की छाया में ही भेद को सुरक्षित करने का प्रयास किया गया है।” (द्र.पृ.125) परन्तु यह मुझे अनुपयुक्त सा लगता है। अन्य दर्शनों के विषय में लेखक का यह कथन सच हो सकता है परन्तु माध्वों के सिद्धान्त में यह किस तरह से सही होगा? ध्येय है कि माध्वों के मत में अद्वैत वस्तुतः है ही नहीं। वे अद्वैत को औपचारिक मानते हैं। यह बात स्वयं लेखक ने पृ. 126 पर स्वीकार की है। लेखक ने इस संगोष्ठी में एक महत्वपूर्ण योगदान किया है, वह है वाल्लभसम्प्रदाय के अनुसार समवाय के अर्थ का निर्वचन करने में। इस आलेख पर की गयी चर्चा व इस पर लिखा गया गो. श्याममनोहर जी का संगोष्ठ्युत्तर लेखन 'वादे वादे जायते

तत्त्वबोधः' इस सूक्ति को चरितार्थ करता है। न्याय-परम्परा समवायिकारण की अवधारणा को स्वीकार करती है। परिणामवादी दार्शनिक उपादानकारण की अवधारणा को स्वीकार करने के हिमायती हैं। वाल्लभदर्शन में दोनों शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। सामान्य रूप में इन दोनों पदों को समानार्थक मान लिया जाता है, परन्तु ये दोनों पद अपनी विशिष्ट अवधारणात्मक आवश्यकताएँ समेटे हुए हैं। इसका स्पष्टीकरण लेखक के सूक्ष्मेक्षण व गोस्वामी श्याममनोहर जी के संगोष्ठ्युत्तर सुविचारण के द्वारा सम्भव हो सका है। अगर ब्रह्म समवायी है तो वह उपादान होगा ही, यह आवश्यक नहीं है, परन्तु किसी अवस्थाविशेष में वह उपादान भी हो सकता है। इस विषय पर गोस्वामीजी के द्वारा लिखा गया संगोष्ठ्युत्तरलेखन अपने आप में विलक्षण है। इस विषय पर डॉ. शर्मा का दृष्टिभेदी प्रस्ताव और श्याममनोहर जी द्वारा उसके पुरस्कार एवं समालोचना को अन्यत्र प्राप्त कर पाना मुश्किल सा प्रतीत होता है। भारतीय दर्शनों में न्याय, सांख्य आदि दर्शन क्रमशः असत्कार्यवाद व सत्कार्यवाद आदि का स्वीकार करते हुए कार्यकारणभाव की व्याख्या करते हैं। इस विषय में शुद्धाद्वैतवाद का सिद्धान्त सामान्यतः तो अविकृतपरिणामवाद का माना जाता है, परन्तु कहीं-कहीं इसको विवर्तवाद भी स्वीकार्य होता है। कहीं-कहीं इस दर्शन में विकृतपरिणाम भी स्वीकारा जाता है। कहीं-कहीं न्यायवैशेषिकदर्शनानुसारी आरम्भवाद भी इस दर्शन में स्वीकार्य होता है। अब विवर्तवाद का स्वीकार करते हुए भी इस दर्शन में व्यावहारिक व पारमार्थिक इस प्रकार से सत्ता का भेद नहीं किया गया है। यह देखना रोचक व शोध का विषय हो सकता है कि किस तरह से व्यावहारिक व पारमार्थिक इस रीति से सत्ता का भेद किये बिना ही विवर्तवाद को स्वीकारा जा सकता है? (द्र.पृ. 138-139 तथा 152-163)।

आगे का प्रकरण है विवर्तवाद। इस प्रकरण में प्रो. पारसनाथ द्विवेदी का 'विज्ञानवादिमते कारणताविचारः' तथा डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र का 'प्रस्थानरत्नाकरनिरूपितकरणकारणसामान्यस्वरूपस्य श्रीमद्भागवद्व्याख्यानदृष्ट्या परीक्षणम्' आलेख संगृहीत हैं। प्रो. द्विवेदी अद्वैतवेदान्त तथा बौद्धदर्शन के उद्भट विद्वान हैं। इन्होंने अपने आलेख में विज्ञानवादियों के अनुसार कारणता की क्या अवधारणा हो सकती है, इसका प्रामाणिकता के साथ उपपादन किया है। अपने संक्षिप्त परन्तु सुस्पष्ट व विद्वत्पूर्ण लेख में विज्ञानवादियों की युक्तियाँ क्या हैं, अपने पक्ष को सिद्ध करने के उनके साधन क्या हैं, इस पर समुचित विचार करते हुए उनके पक्ष के दोष क्या हैं, यह सब कुछ विद्वान लेखक ने सुस्पष्ट किया है; साथ ही उन्होंने वाल्लभपक्ष का भी समुचित व युक्तिसंगत प्रतिपादन करते हुए अपने आलेख को पूर्णता प्रदान की है। विशेष यह कि कहीं पर भी सिद्धान्तविरुद्ध कोई बात इस आलेख में दिखायी नहीं देती है।

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र द्वारा प्रस्तुत आलेख 'प्रस्थानरत्नाकरनिरूपित-करणकारणसामान्यस्वरूपस्य श्रीमद्भागवद्व्याख्यानदृष्ट्या परीक्षणम्' पर्याप्त रूप से विस्तृत है तथा इस आलेख पर चर्चा व संगोष्ठ्युत्तरलेखन दोनों ही बहुत विस्तार से किये गये हैं।

इस आलेख में सृष्टि के व्याख्यानार्थ श्रीमद्भागवत के अनुसार किस तरह का कार्यकारणभाव स्वीकार किया जा सकता है, इस पर विचार किया गया है। अपने आलेख की प्रस्तावना में लेखक ने यह आधारशिला सी रखी है कि श्रीमद्भागवत में केवल एक ही दर्शन के मतों का स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु प्रायशः समस्त आस्तिक दर्शनों के अनुरूप सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण अधिकारिभेद से किया गया है। श्रीमान् वल्लभाचार्य तो श्रीमद्भागवत का प्रामाण्य भी इसी कारण उपनिषदादि की तरह ही स्वीकार करते हैं। परन्तु अपने इस आलेख में लेखक का स्वकीय अनुराग अद्वैतवेदान्तानुसारी श्रीमद्भागवत की व्याख्या के प्रति दिखायी देता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार अगर लेखक का आकलन सही है तो वाल्लभवेदान्तानुसारी कार्यकारणभाव की स्वीकृति की बात नहीं प्राप्त होती है। यह वाल्लभों पर असहनीय आरोप है। आखिर जब वल्लभाचार्य स्वयं श्रीमद्भागवत को परमप्रमाण मान रहे हैं तो यह बात तो पूरी परम्परा को सिद्धान्त-विरोधी बताने की हो जाती है। इसी कारण इस आलेख पर इतनी लम्बी चर्चा की गयी है। महाप्रभु के कुछेक वचनों को उद्धृत करते हुए जिस तरह से लेखक ने जगत् के असत् होने की बात उठायी है (द्र.पृ. 190) उसे एकबारगी खारिज कर देना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। अब यह स्वीकार करते हुए कि असत् का जन्म नहीं हो सकता है, तथा सत् का विनाश नहीं हो सकता है, तब अविकृतपरिणामवाद का स्वीकार करते हुए किस तरह से इस जगत् को असत् कहने का साहस किया जा सकता है? साथ ही किस तरह से इस महाप्रभुवचन की संगति उनके सिद्धान्तों के साथ लगायी जा सकती है? हालाँकि गो. श्याममनोहरजी ने इसका अच्छा प्रयास चर्चा व अपने संगोष्ठ्युत्तरलेखन में किया है, परन्तु उससे सम्पूर्णता में सहमत होना सम्भव नहीं लगता। चर्चा में श्रीमद्भागवत के अनुसार माया का कैसा स्वरूप हो सकता है, सत् या असत् या सदसत् या अनिर्वचनीय, इस पर विस्तृत विचार किया गया है। संगोष्ठ्युत्तरलेखन में डॉ. मिश्र द्वारा उठाये गये आक्षेपों का खण्डन करने का गोस्वामी जी ने भरपूर प्रयास किया है। अनेक स्थलों पर डॉ. मिश्र के लेख में पूर्वापरविरोध को दिखाया गया है जो कि उचित ही दिखता है। संगोष्ठ्युत्तरलेखन में विवर्तवाद को स्वीकार करने के कारणों पर भी विस्तार से चर्चा की गयी है। यह उत्तरपक्ष अपनी गम्भीरता व विषयप्रवणता के कारण द्रष्टव्य है।

अगला प्रकरण आरम्भवाद है। इस प्रकरण में पाँच विद्वानों के आलेख संगृहीत हैं—प्रो. बलिराम शुक्ल का, 'नैयायिकानां कारणत्वविचारः', डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र का (मेरा), 'कारणतासिद्धान्ते न्यायवाल्लभमतयोः समीक्षणम्', प्रो. चन्द्रशेखर शुक्ल का, 'वैशेषिकाभिमतः कारणवादः', डॉ. किशोरनाथ झा का, 'कारणलक्षण के प्रसंग में न्याय तथा शुद्धाद्वैतवेदान्त की मान्यता' तथा डॉ. अरुण मिश्र का, 'पाश्चात्यमत के अनुसार कौन सा मत समीचीन है—वाल्लभ या नैयायिकों का'। मैं समझता हूँ कि शुद्धाद्वैतीय अवधारणा का जिन दर्शनों के साथ विरोध प्रबल है उनमें न्यायदर्शन अग्रिम पंक्ति में आयेगा। न्यायदर्शन भले ही शुद्धाद्वैत के मार्ग में प्रधान मल्ल की भूमिका का निर्वहन न करे

परन्तु इसका जो मौलिक विरोध शुद्धद्वैतीय अवधारणाओं के साथ है वह इस दर्शन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विरोधी के रूप में व्यवस्थापित कर देता है। सम्भवतः इसी कारण इस प्रकरण को इतना विस्तार दिया गया है।

प्रो. बलिराम शुक्ल अपने आलेख 'नैयायिकानां कारणत्वविचारः' में न्यायदर्शनानुसारी कार्यकारणभाव का व्यवस्थापन भली-भाँति करते हैं। नैयायिकों पर यह आक्षेप बहुधा लगाया जाता है कि वे असत्कार्यवादी हैं। असत् कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार करने पर 'आखिर क्यों शशशृङ्गादि की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है?' शुक्ल जी ने इस प्रश्न का समाधान देने का प्रयास किया है। उनके अनुसार असत् की उत्पत्ति होने का आशय इससे नहीं है कि जो असत् होता है उसकी उत्पत्ति होती ही है। इसका आशय मात्र यह है कि जिसकी उत्पत्ति होती है वह उत्पत्ति के पूर्व असत् ही होता है। मैंने भी इस प्रश्न पर अपने आलेख में विचार किया है। मेरा मानना यह है कि असत् घट का शशशृङ्ग के साथ साम्य व्यवस्थापन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शशशृङ्ग तो अलीक है, घट अलीक नहीं है। वस्तुतः देखा जाये तो शशशृङ्ग की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? यह प्रश्न ही नैयायिकों के लिए निरर्थक है। इसका आशय यह हो सकता है कि शश में शृङ्ग की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? सीधा सा उत्तर बनता है कि शश में शृङ्ग के उत्पादक कारण न होने के कारण शश में शृङ्ग की उत्पत्ति नहीं होती है। शुक्ल जी का सारा विवेचन मूल ग्रन्थों पर आधारित है। परन्तु एक स्थान पर वे कहते हैं कि "असाधारणकारण दो तरह का होता है (द्र.पृ. 245)।" आगे का विवेचन पढ़ने से लगता है कि समवायिकारण व असमवायिकारण को ही वे इन दो भेदों में परिगणित कर रहे हैं। अगर ऐसा है तो क्या वे निमित्तकारण को असाधारण कारण नहीं मानना चाहते हैं? दण्डादि निमित्तकारणों को करण के रूप में न्यायवैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों में स्वीकारा गया है। व्यापारवत् असाधारण कारण को ही करण माना जाता है। यहाँ पर प्रो. शुक्ल का कथन सिद्धान्त विरुद्ध दिखायी देता है। इस आलेख पर भी बहुत विस्तार से चर्चा की गयी है। चर्चा में प्रो. ताताचार्य ने स्पष्ट किया है कि क्या कारण है कि नैयायिक असमवायिकारण को स्वीकार करते हैं व वाल्लभवेदान्तियों के लिए असमवायिकारण का स्वीकार अनावश्यक हो जाता है। एक और प्रश्न पर ज़्यादा विस्तार से चर्चा की गयी है। वह प्रश्न है कि क्या उत्पत्तिक्रिया घटादि में समवेत होकर आत्मलाभ करती है या अनुत्पद्यमान घटादि में विद्यमान रहते हुए आत्मलाभ करती है? उभयथा ही नैयायिकों के लिए इस प्रश्न का समाधान करना कठिन है। इस तरह एक विचित्र प्रकार के उभयतोपाश का प्रयोग गो. श्याममनोहरजी के द्वारा प्रयुक्त है। यह प्रश्न सन्तोषजनक रीति से चर्चा में समाहित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः उत्पत्ति के धात्वर्थ होने पर भी उसका क्रिया होना नैयायिक की दृष्टि से अनावश्यक है। अगर उत्पत्ति को प्रथमक्षणसम्बन्धरूप मान लिया जाये, जैसा कि मैंने अपने आलेख में कहा है (द्र.पृ. 271) तो इस उभयतोपाश से निकलना आसान हो जाता है। डॉ. बलिराम शुक्ल के आलेख पर संगोष्ठीयुत्तरलेखन लिखते हुए विस्तार से गोस्वामीजी न्यायमत का खण्डन करते

हैं। इस विषय पर यहाँ ज़्यादा विस्तार से लिखना सम्भव नहीं है। असमवायिकारण का खण्डन करते हुए गो. पुरुषोत्तमचरण का उद्धरण देते हुए गो. श्याममनोहर जी असमवायिकारण का अन्तर्भाव कारण-सामग्री में करते हैं। (द्र.पृ. 261) मुझे तो ऐसा लगता है कि नैयायिकों की तरह तन्तुसंयोग को कारण तो शुद्धाद्वैतियों को भी मानना ही पड़ेगा, परन्तु उसे वे निमित्तकारण में अन्तर्भूत करना चाहेंगे। समवायिकारण व निमित्तकारण के विभाग में समस्त कारण-सामग्री का अन्तर्भाव हो जाना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है।

मेरा आलेख “कारणतासिद्धान्ते न्यायवाल्लभमतयोः समीक्षणम्” न्याय व वाल्लभ मतों के अनुसार कारणता सिद्धान्त के परीक्षण पर विशेष दृष्टि से लिखा गया है। मेरा विचार यह है कि इन दोनों ही सिद्धान्तों में समानमार्ग का अनुसरण करते हुए परिष्कार किया गया है। इन दोनों के कारणता सिद्धान्तों का जो भेद दिखायी दे रहा है वह केवल दृष्टिभेदमात्र है।

प्रो. चन्द्रशेखर शुक्ल का ‘वैशेषिकाभिमतः कारणवादः’ आलेख वैशेषिक दृष्टि से कारणविषयक अवधारणा का प्रतिपादन करता है। नैयायिकों व वैशेषिकों की कारण विषयक अवधारणा में कोई अन्तर नहीं है, इस कारण वस्तुतः वही सभी सिद्धान्त कुछ अन्य उद्धरणों के आधार पर प्रतिपादित किये गये हैं। इस आलेख में विद्वान लेखक ने प्रस्थानरत्नाकर द्वारा उठाये गये आक्षेपों का समाधान करने का समुचित प्रयास किया है। असत्कार्यवाद की साधक युक्तियों पर भी विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ पर भी प्रो. चन्द्रशेखर शुक्ल के आलेख पर संगोष्ठ्युत्तर लेखन लिखते हुए विस्तार से गोस्वामीजी वैशेषिकमत का खण्डन करते हैं।

अग्रिम आलेख डॉ. किशोरनाथ झा का ‘कारणलक्षण के प्रसंग में न्याय तथा शुद्धाद्वैतवेदान्त की मान्यता’ है। इस आलेख में डॉ. झा ने सविस्तार उभयसम्प्रदायों के कारण लक्षण की विवेचना की है। उपस्कारकार शंकर मिश्र के द्वारा प्रतिपादित लक्षण ‘सहकारिवैकल्याभावप्रयुक्तकार्याभाववत्त्व’ भी विचार का विषय हो सकता है। असमवायिकारण में नञ् का अर्थ क्या होता है, इस पर भी विस्तृत विचार करते हुए सादुश्रुत्यार्थक नञ् पद का स्वीकार नैयायिकों को अपेक्षित है, यह विवेचन ‘निमित्तकारण को क्यों असमवायिकारण नहीं कहा जाता है, हालाँकि वह समवायिकारण से भिन्न है’, इस प्रश्न को समाहित कर देता है। इस आलेख पर प्रवृत्त चर्चा समवाय व तादात्म्य के समानार्थकत्व की सम्भावना व असम्भावना के विचार पर अधिक केन्द्रित है।

इस आलेख पर संगोष्ठ्युत्तरलेखन लिखते हुए गोस्वामी श्याममनोहर जी ने नैयायिकों पर कुछ तीखे व विध्वंसात्मक प्रहार किये हैं जिन पर मैं इस समीक्षालेख में कुछ कहना चाहता हूँ। नैयायिक तादात्म्य को भेदसहिष्णु नहीं मानते हैं, वाल्लभमतानुसार तादात्म्य को भेदसहिष्णु स्वीकारा गया है। गोस्वामी श्याममनोहर जी, न्यायमत में भी तादात्म्य को भेदसहिष्णु स्वीकार करना पड़ेगा, इस आग्रह के साथ पृ. 320 पर अपनी बात आरम्भ करते हैं। गदाधर भट्टाचार्य को उद्धृत करते हुए एकमात्र वृत्ति-धर्म ही तादात्म्य है, ऐसा कहते हैं। इस तरह के तादात्म्य की प्रतीति ‘नीलो घटः’ आदि शाब्दप्रमा के उत्पादक

वाक्यों से भी हुआ करती है व 'देवदत्तो घटः', 'घटो घटः', 'देवदत्तो वन्ध्यापुत्रः' आदि शाब्दप्रमा के अजनक वाक्यों से भी हुआ ही करती है तो क्या इन प्रतीतियों में अन्तर मानना आवश्यक नहीं है? अगर इन प्रतीतियों में अन्तर मानना है तो वह स्वीकृति किस रीति से सम्भव है? इसके आगे युक्तियों का विकल्प खड़ा करते हुए वे कहते हैं कि इस कारण यह विचारणीय हो जाता है कि क्या यहाँ 'नीलो घटः' सदृश वाक्यों में उद्देश्यरूप घट व विधेयरूप नील के बीच '6=3+3' के समान समव्याप्तिक उद्देश्यविधेयभाव स्वीकारना है या 'सिंहः पशुः' की तरह विषमव्याप्तिक उद्देश्यविधेयभाव स्वीकारना है, अथवा 'देवदत्तोऽयं पङ्गुः' की तरह निर्व्याप्तिक उद्देश्यविधेयभाव स्वीकारना है? इनमें प्रथम द्वितीय पक्षों में जो दोष उन्होंने बताये हैं उन्हें हम भी स्वीकार करते हैं। परन्तु इन दोनों पक्षों का स्वीकार न्यायमत में भी नहीं किया गया है। तीसरा पक्ष ही शेष रहता है तथा वही नैयायिकों को स्वीकार्य भी है। तो इस परिस्थिति में कई नीलवर्ण अघट भी होते हैं तथा कई घट भी अनील होते हैं। इसी कारण जिस तरह से 'नीलो घटः' वाक्य प्रामाणिक होता है उसी तरह से 'अनीलो घटः' वाक्य भी प्रामाणिक हुआ ही करता है। तो गोस्वामी श्याममनोहर जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बिना नील पदार्थ व घटपदार्थ के बीच भेदसहिष्णु अभेद माने काम नहीं चल सकता है। इस पर आगे अपनी बात बढ़ाते हुए गोस्वामी श्याममनोहर जी कहते हैं कि 'नीलो घटः' इस वाक्य का प्रामाण्य एक किसी घटव्यक्ति के सन्दर्भ में सीमित नहीं किया जा सकता है। अगर यह कर भी लें तो उत्पत्तिकाल में नैयायिक घट को नीलरूपवान् तो नहीं ही मानते हैं। इस तरह एक ही घट व्यक्ति नील भी व अनील भी स्वीकार्य है। यह तादात्म्य को भेदसहिष्णु माने बिना सम्भव नहीं है। गोस्वामी श्याममनोहर जी आगे 'चैत्रो मैत्रश्च सुन्दरौ' इस वाक्य से सम्भाव्य बोध के अभिप्राय से भी तादात्म्य को भेदसहिष्णु माने जाने की वकालत करते हैं। कहना यह है कि 'सुन्दर' पद से उपस्थाप्य सुन्दरपदार्थ के साथ चैत्र का आत्यन्तिक अभेद बोधित नहीं हो सकता है, क्योंकि उसी सुन्दरपदार्थ के साथ मैत्र का भी अभेद बोधित होता है। एक ही पदार्थ के साथ चैत्र व मैत्र दोनों का अभेद तभी बोधित हो सकता है अगर तादात्म्य को भेदसहिष्णु माना जाये। गोस्वामी श्याममनोहर जी के इस विवेचन के सन्दर्भ में मुझे प्रथमतः तो उनकी यह बात स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि जिस तरह से 'नीलो घटः' वाक्य प्रामाणिक होता है उसी तरह से 'अनीलो घटः' वाक्य भी प्रामाणिक हुआ ही करता है। परन्तु इन दोनों के प्रामाण्य का उपपादन करने के लिए यह स्वीकार करना कतई आवश्यक नहीं है कि तादात्म्य भेदसहिष्णु होता है। नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति स्वीकार करते हैं। जातिविशिष्ट व्यक्ति ही पदार्थ होता है, इस कारण 'नीलो घटः' वाक्य से यह भी कहा जा सकता है कि 'अपूर्व व्यक्ति उपस्थित होता है, उसके साथ ही नीलपदार्थ का अभेद है।' 'अनीलो घटः' इस स्थल में जो व्यक्ति उपस्थित होता है उसके साथ अनील का ही तादात्म्य है, नील का नहीं। आखिर जिस घट-व्यक्ति को नील बताने के लिए 'नीलो घटः' वाक्य प्रामाणिक होता है उसी व्यक्ति को अनील बताने के लिए 'अनीलो घटः' वाक्य प्रामाणिक नहीं ही हुआ करता है। तादात्म्य को भेदसहिष्णु मानने की स्थिति में एक ही व्यक्ति को नील व अनील बताने के लिए उक्त उभयविध प्रयोग होने चाहिएं थे। इस कारण इस तरह के समस्त वाक्यों का

प्रामाण्य नैयायिक एकमात्र तद्घटव्यक्ति के सन्दर्भ में ही सीमित करते हैं। जहाँ तक उसी व्यक्ति के उत्पत्तिकाल को आधार बनाकर अनील व अन्य कालों के आधार पर नील होने की बात है, तो इसका समाधान यह है कि एकदेशावच्छेदेन व एककालावच्छेदेन ही भाव व अभाव की वृत्ति में विरोध होता है, भिन्नदेशावच्छेदेन व भिन्नकालावच्छेदेन वृत्ति में विरोध नहीं होता। इसी कारण मूल में कपिसंयोग न रहने पर भी शाखा में कपिसंयोग के रहने में नैयायिक किसी विरोध को नहीं देखते हैं। उसके आधार पर वृक्ष को कपिसंयोगी व कपिसंयोगिभिन्न दोनों ही माना जाता है। अगर इस तरह से देखा जाये तो वाल्लभदर्शन के ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रय मानने की बात से ही घटादि को भी विरुद्धधर्माश्रय मानना आवश्यक हो जायेगा, जो कि निश्चय ही वाल्लभों के लिए सिद्धान्त विरुद्ध होगा। विरुद्धधर्माश्रय होना तो उनके मत में ब्रह्म की ही महिमा है, घटादि की महिमा तो यह नहीं है। तो जिस तरह से भाव और अभाव में विरोध का उपपादन सम्भव हो उस तरह से परिष्कार करने पर भी अगर तादात्म्य को भेदसहिष्णु मानना सम्भव हो तो ही यह उचित हो सकता है। मैं समझता हूँ कि यह सम्भव नहीं है। जहाँ तक 'चैत्रो मैत्रश्च सुन्दरौ' इस वाक्य से सम्भाव्य बोध की बात है तो इसके अनुरोध से भी तादात्म्य को भेदसहिष्णु मानना उचित नहीं है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या वही सौन्दर्य चैत्र में भी है व वही मैत्र में भी? मैं समझता हूँ कि दोनों के सौन्दर्य में भेद है। इस कारण भले ही सुन्दर पद के द्वारा ही सुन्दरपदार्थ की उपस्थिति हुई हो परन्तु दोनों में अन्वित होने वाला सुन्दर का अभेद भिन्न है, यह मानना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न ही तद्व्यक्तित्व दोनों में बोध्य हैं तो इस स्थल के अनुरोध से भी तादात्म्य को भेदसहिष्णु मानना अनावश्यक लगता है।

सम्पादक ने अग्रिम प्रकरण को नाम दिया है सर्वसिद्धान्तसंग्रहवाद। इसमें प्रो. एस.आर. भट्ट का "A Critique of Sudhadvaita View of Causation" तथा प्रो. रामकिशोर त्रिपाठी का 'शुद्धाद्वैतसम्मतं हि शब्दाद्वैतकारणम्' ये दो आलेख संगृहीत हैं। प्रो. एस.आर. भट्ट अपने आलेख में प्रस्थानरत्नाकर में न्यायसम्मत कारणता के निर्वचन में उठाये गये आक्षेपों का समाधान देने की कोशिश करते हैं। विद्वान् लेखक ने कार्यकारणभाव की चर्चा न केवल ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भ में करने की बात की है अपितु तत्त्व, भाषा तथा मूल्य के सन्दर्भ में भी इस तरह की चर्चाओं के किये जाने की सम्भावना की ओर संकेत किया है। शेष आलेखों में विषय-वस्तु की चर्चा सामान्य और विवरणात्मक प्रकृति की होने से स्वतः ही बहुत स्पष्ट है।

अगले प्रकरण का नाम है परिणामवाद (1)। इस प्रकरण में चार विद्वानों के आलेख संगृहीत हैं—श्रीमती उज्ज्वला पानसे झा का "Satkaryavada of Sankhyas and Vallabha Theory of Avirbhava-tirobhava", प्रो. एन.एस. रामानुज ताताचार्य का 'परमाणुकारणवादपरिशीलनं ब्रह्मणो अभिन्ननिमित्तोपादानत्वञ्च' तथा प्रो. के.ई. देवनाथन् का 'कार्यकारणभावविषये विशिष्टाद्वैतीनां सिद्धान्तः' तथा प्रो. प्रह्लादाचार का 'मध्वसिद्धान्तरीत्या कार्यकारणभावविचारः।'

श्रीमती उज्ज्वला पानसे झा अपने आलेख 'Satkaryavada of Sankhyas and Vallabha theory of Avirbhava-tirobhava' में सांख्यदर्शन के अनुसार स्वीकृत सत्कार्यवाद का परित्याग कर शुद्धाद्वैतमत में अविकृतपरिणामवाद को स्वीकार करने का उद्देश्य क्या है, इस पर विचार करती हैं। श्रीमती पानसे के अनुसार वाल्लभमत में सांख्य के सत्कार्यवाद व मीमांसा के शक्तिविषयक सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। मीमांसकों के शक्तिविषयक सिद्धान्त से वाल्लभ पूरा का पूरा इत्फाक रखते हैं। मैं समझता हूँ यह एक सही निरीक्षण है। यह अवश्य है कि सांख्यों के सत्कार्यवाद का स्वीकार वाल्लभों ने कुछ परिवर्तन के साथ किया है।

प्रो. एन.एस. रामानुज ताताचार्य का 'परमाणुकारणवादपरिशीलनं ब्रह्मणो अभिन्ननिमित्तोपादानत्वञ्च' आलेख अपने विषय पर अत्यन्त उत्तम है। उनके वैदुष्य के विषय में जो ख्याति है वह सही ही है। इस आलेख में विद्वान् लेखक ने परमाणुकारणवाद का तथा ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता के विशिष्टाद्वैती मत का तलस्पर्शी विवेचन किया है। इसमें परमाणुकारणवाद का स्वीकार करने पर क्या मुश्किलें आ सकती हैं, तथा क्या उन समस्याओं का समाधान दे पाने में नैयायिक समर्थ हैं, इस सबका विस्तार के साथ आलोचन व अनुशीलन किया गया है। प्रो. ताताचार्य दोनों ही शास्त्रों के अधिकारी विद्वान् हैं, आलोचना-प्रत्यालोचना का ऐसा संगम शास्त्रों में ही मिलता है। कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी प्रो. ताताचार्य करते हैं व उनका समाधान भी। हालाँकि रघुनाथ शिरोमणि ने कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण होने वाले ईश्वर को ही शब्द का समवायिकारण मानने की बात कही है, परन्तु सामान्यतः नैयायिक निमित्तकारण व उपादानकारण का अभेद नहीं स्वीकार करते हैं, ऐसी स्थिति में कालघटसंयोग के प्रति काल द्रव्य होने के कारण समवायिकारण भी होता है व काल के कार्यमात्र के प्रति कारण होने के कारण निमित्तकारण भी। इस पर किस रीति से भेद सम्भव हो सकेगा, तदुभयभिन्नकारणं निमित्तकारणम् इस लक्षण की अव्याप्ति का निवारण करने का क्या उपाय हो सकता है, इस पर भी सुविस्तृत विवेचन किया गया है। इस विषय पर विद्वान् भी अपना ज्ञानवर्धन कर सकते हैं। विद्वान् लेखक ने अपने आलेख में (पृ. 400) एक बात कही है जिस पर कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। निरवयव का अभाव होने पर न्यायपरम्परा में मेरुसर्षप के साम्य की प्रसक्ति दोनों के अनन्तावयवारब्ध होने के कारण दी जाती है, इस पर लेखक ने कहा है कि अवयवों का न्यूनाधिकभाव होने के कारण यह प्रसक्ति दूर की जा सकती है। उदाहरण के रूप में मासों व पक्षों के अनन्त होने पर भी मासापेक्षया पक्षों का द्विगुणत्व लब्ध होता ही है। इस पर मुझे लगता है कि शायद ही यह कथन समुचित तरीके से व्यवस्थापित किया जा सकता है। मासों के पक्षघटित होने के कारण ही हमें ऐसा लगता है, परन्तु जहाँ पर एक-दूसरे से कोई घटित नहीं है वहाँ पर तो सान्त्वता के आधार पर ही न्यूनाधिकभाव व्यवस्थापित किया जा सकता है। तो भी प्रो. ताताचार्य का कथन विचारणीय है। चर्चा में विशिष्टाद्वैत के अनुसार किस तरह से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा संगत हो सकेगी, इस पर भली-भाँति विचार किया गया है। इस चर्चा में ताताचार्य जी के द्वारा स्पष्टीकृत विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

प्रो. के.ई. देवनाथन के 'कार्यकारणभावविषये विशिष्टाद्वैतिनां सिद्धान्तः' शीर्षक आलेख में विशिष्टाद्वैतमत के अनुसार कार्यकारणभाव का प्रतिपादन किया गया है। इस संक्षिप्त आलेख में भी नैयायिकों को ही पूर्वपक्ष बनाते हुए नैयायिकों के द्वारा प्रतिपादित कार्य व कारण के बीच भेद की साधक युक्तियों का उपस्थापन सम्यक्तया करते हुए विशिष्टाद्वैतमत का साधन किया गया है। इस आलेख में तार्किकों की युक्तियाँ किस ग्रन्थ के आधार पर दी गयी हैं, इसका निर्देश नहीं है। अगर यह होता तो शोधार्थियों के लिए थोड़ा ज्यादा उपयोगी होता।

प्रो. प्रह्लादाचार का 'मध्वसिद्धान्तरीत्या कार्यकारणभावविचारः' शीर्षक आलेख वस्तुतः उनके द्वारा दिया गया मौखिक भाषण है। इसी कारण इसमें भी सन्दर्भ-निर्देश का अभाव है। परन्तु अपनी सरल पद्धति के साथ प्रो. प्रह्लादाचार ने माध्वपक्ष का बखूबी प्रतिपादन किया है। जिन श्रुतिवाक्यों के आधार पर अद्वैती व शुद्धाद्वैती अपने मत को अद्वैत व शुद्धाद्वैत के रूप में व्यवस्थापित करते हैं, उनका किस प्रकार से उपयोग माध्व अपने पक्ष के मण्डनार्थ करते हैं, यह इस आलेख में देखा जा सकता है। इस आलेख पर चर्चा में शुद्धाद्वैत मत के अनुसार संसार व जगत् का भेद किस तरह से सम्भव है, इसका भी विवेचन संक्षेप में है। यह भी ध्येय है कि संसार को मिथ्या मानते हुए भी उसका मिथ्यात्व वैसा नहीं है जैसा अद्वैती मानते हैं।

अगले प्रकरण का नाम है परिणामवाद (2)। इस प्रकरण में भी चार विद्वानों के आलेख संगृहीत हैं—प्रो. प्रबलकुमार सेन का 'Purusottamacharya and Bhaskaracharya on the Theory of Causation', गोस्वामी श्याममनोहर जी का 'कार्यकारणभावमीमांसा', डॉ. सुनन्दा वाई. शास्त्री का 'Doctrine of causality in Sudhadvaita with special reference to Prasthanaratnakara' तथा डॉ. एम.वी. जोशी का 'Avikrtaparinamavada : the Theory of Causation in Vallabhavedanta'।

प्रो. प्रबलकुमार सेन का आलेख कार्यकारणभाव पर पुरुषोत्तमचरण व भास्कराचार्य के मतों की अत्यन्त गम्भीर तुलना को समर्पित है। इस आलेख में विद्वान् लेखक ने अद्वैतमत के विरोध में पुरुषोत्तमचरण व भास्कराचार्य को साथ-साथ खड़ा पाया है। भास्कराचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव व जगत् का अद्वैत किसी भी तरह से सम्भव नहीं है, इनके बीच भेदाभेद ही मानना पड़ेगा। यह अवधारणा शुद्धाद्वैतीय अवधारणा के काफी नज़दीक है। भास्कराचार्य की अनेक बातों के साथ पुरुषोत्तमचरण का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। पुरुषोत्तम इनके बीच में तादात्म्य स्वीकार करने के हिमायती हैं। तादात्म्य का अर्थ उन्होंने बताया है भेदसहिष्णु अभेद। इस कारण यह सन्देह भी होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि इन दोनों ही मतों में इस विषय पर विचारैक्य हो? इसकी सम्भवना पर विचार करते हुए उन्होंने सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया है कि भास्कराचार्य का अभिप्राय औपाधिक भेदाभेद को स्वीकार करने का है, पुरुषोत्तमचरण के ग्रन्थ में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त हो सका है। तो इस प्रश्न के साथ लेखक ने अपनी बात पूरी की है कि इन दोनों

ही मर्तों में क्या अन्तर हो सकता है? चर्चा में गोस्वामी श्याममनोहर जी ने इस प्रश्न का सम्यक् उत्तर देते हुए अपनी बात विस्तार के साथ कही है। मौलिक अन्तर दोनों मर्तों में यही है कि भास्कर के अनुसार द्वैत व अद्वैत दोनों ही प्रधान हैं, परन्तु शुद्धाद्वैत में अद्वैत प्रधान है, द्वैत गौण।

गोस्वामी श्याममनोहर जी के 'कार्यकारणभावमीमांसा' शीर्षक आलेख में काफी विस्तार के साथ वाल्लभ वेदान्त व स्पिनोज़ा के मर्तों का तुलनात्मक विमर्श प्रस्तुत किया गया है। गोस्वामी श्याममनोहर जी का यह प्रयास अपूर्व व अनूठा है। इसके पहले भी स्पिनोज़ा के मत का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विमर्श किया गया है। उदाहरण के रूप में प्रो. आर.के. त्रिपाठी का 'स्पिनोज़ा इन द लाइट ऑफ अद्वैत वेदान्त' ग्रन्थ एक द्रष्टव्य और प्रामाणिक प्रयास है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयास इस दिशा में हुए हैं। परन्तु वाल्लभसम्प्रदाय के साथ तुलना करने का प्रयास अभिनव है। अब स्पिनोज़ा के दर्शन को न तो पूरा का पूरा अद्वैतवादी माना जा सकता है और न ही पूरा का पूरा शुद्धाद्वैती ही माना जा सकता है। इस कारण यह वस्तुतः शोध का विषय है कि स्पिनोज़ा का दर्शन किस खेमे में रखा जा सकता है। स्पिनोज़ा निगमनात्मिका तर्कपद्धति से अपने निष्कर्षों पर पहुँचता है, किन्तु अद्वैत तथा शुद्धाद्वैत इस रीति से अपने निष्कर्षों को निगमित नहीं करते हैं। इस कारण क्या वाकई इन दोनों में कोई तुलना की जानी चाहिए, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है, हालाँकि इस विषय में निष्कर्षों की तुलना करने में तो कोई असुविधा नहीं ही प्रतीत होती है। गोस्वामी श्याममनोहर जी के निष्कर्ष के अनुसार स्पिनोज़ा के सिद्धान्त व वाल्लभसिद्धान्तों में चमत्कृतिजनक साम्य है। प्रथमतः महाप्रभु के द्वारा ब्रह्म का जैसा स्वरूप स्वीकार किया गया है कि वह कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् समर्थ है, वह व्यापक भी है व प्रादेशमात्र भी, वह विरुद्धधर्मों का आश्रय है। स्पिनोज़ा के अनुसार गॉड अपरिच्छिन्न है, उसमें अपरिच्छिन्न गुणधर्म हैं, वह अकर्तुम् या अन्यथाकर्तुम् समर्थ नहीं है। गोस्वामी श्याममनोहर जी कहते हैं कि अगर आपने इस गॉड में अपरिच्छिन्नगुणधर्मों को स्वीकार कर लिया तो विरुद्धधर्माश्रयता की अस्वीकृति किस तरह से करेंगे, क्योंकि विरुद्धधर्माश्रयता को अस्वीकार करने पर तो गुणों का परिच्छिन्नत्व ही स्वीकार करना पड़ेगा। अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता की अवधारणा के साथ तो निश्चय ही स्पिनोज़ा को भी सहमति दिखानी ही पड़ेगी, क्योंकि गॉड के सिवा अन्य कुछ उसे भी स्वीकार्य नहीं है। इस आलेख की चर्चा भी इन्हीं सारे विषयों पर केन्द्रित है। 'और भी गम हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा' की तर्ज़ पर अगर कहा जाये कि इस विषय पर अभी काफी कुछ शोध किया जाना है, तो शायद यह अतिशयोक्ति न होगी।

डॉ. सुनन्दा वाई. शास्त्री का 'Doctrine of Causality in Suddhadvaita with Special Reference to Prasthanaratnakara' तथा डॉ. एम.वी. जोशी का 'Avikrtaparinamavada : the Theory of Causation in Vallabhavedanata' आलेख पूर्वपक्षों का निराकरण कर दिये जाने के बाद सिद्धान्त पक्ष का विवरण प्रस्तुत करने

वाले निबन्धों जैसे प्रतीत होते हैं। इन दोनों ही आलेखों के द्वारा वाल्लभवेदान्तानुसारी कार्यकारणभाव व सृष्टि की अवधारणा का समुचित विवेचन किया गया है।

परिशिष्ट के रूप में डॉ. बी.के. दलाई का आलेख 'Jain Theory of Causation' व डॉ. मीरा रस्तोगी का आलेख 'काश्मीर शिवाद्वैतवाद में कारणतासिद्धान्त' ये दो आलेख संगृहीत हैं। डॉ. वी.के. दलाई के द्वारा जैनों के अनुसार कार्यकारणभाव का स्वरूप सत्कार्यवाद जैसा ही होता है, यह प्रतिपादित किया गया है। यहाँ पर कारणों का भेद करते हुए उपादान, निमित्त व समर्थकारण के रूप में त्रिविध भेद बताये गये हैं। उदाहरणार्थ घट के लिए मिट्टी उपादान, दण्ड निमित्त तथा कुम्हार समर्थकारण है। परन्तु मुझे लगता है कि इस कथन में कुछ न्यूनता है। जैन इस जगत् का कोई भी समर्थकारण नहीं मानते हैं और इस जगत् के अन्तर्गत अनेक वस्तुओं का समर्थकारण किसी को मानना पसन्द नहीं करते हैं। समर्थकारण तो कर्त्ता ही होता है। डॉ. बी.के. दलाई के अनुसार तो समस्त कार्यों के कर्त्ता से उत्पन्न होने की पारी आ जायेगी, जो कि जैनों को कथमपि स्वीकार्य नहीं है।

डॉ. मीरा रस्तोगी अपने शोध आलेख में काश्मीर शिवाद्वैतवाद में कारणता की धारणा क्या हो सकती है, इस पर सन्दर्भसहित विवेचन करती हैं। नामूलं लिख्यते किञ्चित् का अनुपालन करते हुए यह आलेख तैयार किया गया है। इस दर्शन के कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त में अनेक सिद्धान्तों का घालमेल सा दिखायी देता है। कहीं पर समवायिकारण व असमवायिकारण की अवधारणा का स्वीकार है तो कहीं पर उपादानकारण का। ऐसा लगता है कि इस आलेख में विवेच्य विषय समुदाय रूप से प्रस्तुत हुए हैं, अवयवी रूप में नहीं, जिनमें एक आन्तरिक संगति हो।

वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः को चरितार्थ करने वाले इस ग्रन्थ को देखते हुए इसे एक शोधपूर्ण, उत्तम व संग्रह के योग्य ग्रन्थ मानना चाहिए। इसमें संगृहीत लेख भारतीय दर्शन के जिज्ञासुओं, शोधार्थियों और विद्वानों के लिए समानरूप से लाभदायक सिद्ध होंगे, ऐसी मेरी धारणा है। इस कारण इस ग्रन्थ की सामग्री जिस संगोष्ठी से प्राप्त हो सकी उस संगोष्ठी के आयोजक गोस्वामी शरदजी, गोस्वामी श्याममनोहरजी तथा सहभागी बन्धु निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ को इतने उत्तमरूप में प्रकाशित करने के लिए मैं प्रकाशक व आयोजक को साधुवाद प्रदान करता हूँ। इस तरह के आयोजन होते रहें तो भारतीय दर्शनों की श्रीवृद्धि होती रहेगी।

सच्चिदानंद मिश्र,
सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
पूरी (उड़ीसा)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	धर्म-संकट	- मुकुंद लाठ	200.00
2.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	- यशदेव शल्य	200.00
3.	चिद्विमर्श	- यशदेव शल्य	175.00
4.	तत्त्व-चिन्तन	- यशदेव शल्य	200.00
5.	काव्य-विमर्श	- यशदेव शल्य	250.00
6.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	- यशदेव शल्य भगवती	150.00

